



अच्युत

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
स्वप्नके मायामात्रत्व होनेपर भी वह भविष्यके शुभाशुभका सूचक है	१७१७	— ३
स्वप्नमें रथादिसृष्टिकी प्रतिपादिका श्रुति स्वार्थमें गौण है ...	१७१९	— २
‘स्वयं विहृत्य’ इत्यादिश्रुतिके अनुसार जीव ही स्वप्नसृष्टिका निर्माता है	१७१९	— ६
पञ्चम सूत्र—पराभिध्यानात्— ...	१७२१	— २०
अग्नि के विस्फुलिङ्गके समान जीव भी परमात्माका अंश है, अतः जीवके ज्ञान और ऐश्वर्यसे स्वप्नमें सांकल्पिकी सृष्टि हो ? (प्रश्न) ...	१७२२	— २
कथित प्रश्नका खण्डन ...	१७२२	— ५
६ठा सूत्र—देहयोगाद्वा सोऽपि ...	१७२४	— १५
परमात्माके अंश होनेपर भी तिरस्कृतज्ञानैश्वर्य जीव क्यों है ?	१७२४	— २२
जीवका ज्ञानैश्वर्यतिरोभाव देहादि उपाधिके योगसे हुआ है ...	१७२५	— २

तदभावाधिकरण [पृ० १७२७—१७४२]

द्वितीय अधिकरणका सार ...	१७२७	— ६
७वां सूत्र—तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ...	१७२८	— १
सुषुप्ति अवस्थाका परीक्षण ...	१७२८	— १४
सुषुप्तिके नाडी आदि परस्पर निरपेक्ष पृथक् २ स्थान हैं अथवा परस्पर सापेक्ष एक हैं ? ...	१७३०	— ६
नाडी आदि पृथक् स्थान हैं [पूर्वपक्ष] ...	१७३०	— ९
कथित पूर्वपक्षका खण्डन अर्थात् समुच्चयसे नाडी आदि सुषुप्तिके स्थान हैं [सिद्धान्त] ...	१७३२	— २
एकार्थक होनेसे त्रीहि आदिके समान नाडी आदिका विकल्प क्यों न हो ? ...	१६३२	— २
नाडी आदि भिन्नार्थक हैं और भिन्नार्थक शब्दोंमें भी एक विभक्तिका निर्देश होता है—प्रासादे शेते, पर्यङ्के शेते, इत्यादिमें ...	१७३३	— २

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
‘सर्वे पाप्मानः’ इत्यादिभ्रुतिसे ब्रह्मसम्पत्ति पापके स्पर्शाभावमें हेतु है	१७३५	— ३
उपाधिके सम्बन्धके बिना जीवका कोई आधार नहीं हो सकता है	१७३७	— २
नाडी आदिमें सुषुप्तजीवके अज्ञानमें कारणका विज्ञान अशक्य है	१७३९	— २
८वाँ सूत्र—अतः प्रबोधोऽस्मात्	१७४१	— १
प्रधानतया आत्मा ही सुषुप्तिका स्थान है, अतः जीवके प्रबोधका स्वापाधिकारमें उपदेश है	१७४१	— ९

कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण [पृ० १७४३—१७४९]

तृतीय अधिकरणका सार	१७४३	— ६
९वाँ सूत्र—स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः—	१७४४	— १
सुषुप्त पुरुष ही उठता है उसमें अनियम है [पूर्वपक्ष]	१७४५	— २
सुप्त जीव ही जागता है [सिद्धान्त]	१७४६	— २
भ्रुतियोंसे भी उसीका उत्थान प्रतीत होता है	१७४७	— २
जैसे जलराशिमें प्रक्षिप्त जलबिन्दुका उद्धरण नहीं हो सकता है, वैसे सुषुप्तमें सत्के साथ सम्पन्न जीवका उद्धरण नहीं हो सकता है—इस प्रकार कथितपूर्वपक्षका खण्डन	१७४८	— ९

मुग्धेऽर्धसम्पत्त्यधिकरण [पृ० १७५०—१७५७]

चतुर्थ अधिकरणका सार	१७५०	— ६
१० वाँ सूत्र—मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्	१७५१	— १
मुग्धकी अवस्था कौन है ?	१७५१	— १५
मुग्धका जाग्रदादिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, इसका प्रौढ विचार करते हुए उसका अतिरिक्ति—मूर्च्छा अवस्थामें अन्तर्भाव	१७५२	— ५
परिशेषसे मुग्धता अर्धसम्पत्ति है	१७५५	— ३

उभयार्तिगाधिकरण [पृ० १७५८—१७९४]

पञ्चम अधिकरणका सार	१७५८	— ६
११ वाँ सूत्र—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि	१७५९	— १
सुषुप्ति आदिमें जीव जिस ब्रह्मके साथ उपाधिके उपशमसे सम्पन्न होता है उसके स्वरूपका परीक्षण	१७५९	— १६

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
सविशेष और निर्विशेष श्रुतिके बलसे ब्रह्म उभयरूप है अर्थात्		
सविशेष और निर्विशेषरूप है	१७६०	— २
ब्रह्म स्वतः उभयरूप नहीं है	१७६०	— ८
उपाधिके योगसे भी उभयलिङ्ग नहीं है	१७६१	— २
१२ वाँ सूत्र—न भेदादिति—	१७६२	— १३
स्वतः या उपाधिसे ब्रह्म उभयलिङ्ग नहीं होता है, यह अनुपपन्न है	१७६३	— २
उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि शास्त्रसे प्रतिउपाधि ब्रह्मका		
अभेद ही श्रुत है	१७६३	— ८
१३ वाँ सूत्र—अपि चैवमेके	१७६४	— २१
भेदकी निन्दा करके अभेद ही कोई शाखापाटी कहते हैं ...	१७६५	— २
१४ वाँ सूत्र—अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्	१७६६	— १
रूपादि आकार रहित ही ब्रह्मको जानना चाहिए ...	१७६६	— १०
आकारवद् ब्रह्मका बोधन करनेवाले श्रुतिवाक्य उपासनापरक हैं	१७६७	— ६
१५ वाँ सूत्र—प्रकाशवच्चाऽवैयर्थ्यम्	१७६८	— १
प्रकाशके समान ब्रह्म भी उपाधिसे उस उस आकारको प्राप्त		
होता है	१७६८	— १४
१६ वाँ सूत्र—आह च तन्मात्रम्	१७७०	— १
विलक्षणरूपसे रहित निर्विशेष चैतन्यमात्र ब्रह्मका श्रुति प्रतिपादन		
करती है	१७७०	— ८
१७ वाँ सूत्र—दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते	१७७१	— १
रूपके प्रतिषेध द्वारा श्रुति ब्रह्मको कहती है	१७७१	— १०
१८ वाँ सूत्र—अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्	१७७३	— १
परमात्माकी उपाधि निमित्त अपारमार्थिकी अवस्थाको लेकर ...		
जल सूर्यकादिवत्—यह उपमा दी जाती है	१७७३	— १२
१९ वाँ सूत्र—अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम्	१७७४	— २३
जलसूर्यकादिवत् दृष्टान्त घट सकता नहीं है	१७७५	— २
२० वाँ सूत्र—वृद्धिहासभातत्वमन्तर्भावा—	१७७६	— १
जलसूर्यकादिवत् दृष्टान्त युक्त है	१७७६	— १६
सारूप्य कैसा विवक्षित है ?	१७७७	— २
२१ वाँ सूत्र—दर्शनाच्च	१७७८	— १
श्रुति दिखलाती है कि देहादि उपाधियोंमें परब्रह्मका अनुप्रवेश है	१७७८	— ९
यहाँ कोई दो अधिकरणोंकी कल्पना करते हैं	१७७९	— ४

विषय	पृष्ठ	पंक्ति
परन्तु अधिकरणान्तरका आरम्भ सर्वथा व्यर्थ है ...	१७८०	— २
उभयलक्षण ब्रह्म भी नहीं कह सकते ...	१७८१	— २
आकारवादिनी श्रुतियाँ प्रपञ्च विलयमुखेन अनाकार ब्रह्मकी सूचिका हैं	१७८३	— ३
प्रपञ्च विलय क्या है ? ...	१७८७	— ३
अविद्याध्यस्त सकल प्रपञ्चका स्वप्न प्रपञ्चके समान विलय होता है	१७८८	— ६
द्रष्टव्यादिशब्द विधिपरक नहीं हैं ...	१७९०	— २
प्रमाणजन्य ज्ञान नियोगसे नहीं कर सकते हैं ...	१७९१	— ५
ब्रह्मवाक्योंमें नियोगके होनेपर भी एक वाक्यता नहीं हो सकती है	१७९२	— ७

प्रकृतैतावत्वाधिकरण [पृ ०१७९५—

षष्ठ अधिकरणका सार ...	१७९५	— ६
२१ वाँ सूत्र—प्रकृतैतावत्वं हि— ...	१७९६	— १
‘नेति नेति’ शब्दसे किसका निषेध होता है ? ...	१७९७	— ४
कुछ विशेष न होनेसे रूप और रूपवत् दोनोंका निषेध करता है— [पूर्वपक्ष] ...	१७९९	— ८
दोनोंका निषेध नहीं है [सिद्धान्त] ...	१७९९	— ५
ब्रह्मका प्रतिषेध उपपन्न भी नहीं होता है ...	१८००	— ६
प्रकृत जो मूर्त और अमूर्त है उसका प्रतिषेध करता है ...	१८०२	— ५
‘नेति नेति’ में पूर्व भूतराशिका प्रतिषेध करता है और दूसरा वासनाराशिका ...	१८०५	— ३
अन्य हेतुसे भी रूपद्वयका ही निषेध होता है ...	१८०६	— ३
‘नेति नेति’ इस शब्दके अर्थका कथन ...	१८०६	— ६
२३ वाँ सूत्र—तदव्यक्तमाह हि ...	१८०७	— १६
प्रतिषिद्धसे अन्य ब्रह्मका ग्रहण क्यों नहीं होता है ...	१८०८	— २
सर्वद्वयका साक्षी होनेसे वह अनिन्द्रियग्राह्य है ...	१८०८	— ३
२४ वाँ सूत्र—अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ...	१८०९	— १
अव्यक्त निरस्तसमस्तप्रपञ्च ब्रह्मको समाधिकालमें योगी लोग ग्रहण करते हैं ...	१८०९	— १०
२५ वाँ सूत्र—प्रकाशादिवच्चावैशेष्यम्— ...	१८११	— १६
सूर्यके प्रकाशके समान औपाधिक आत्मका भेद है ...	१८१२	— २
२६ वाँ सूत्र—अतो नन्तेन तथाहि लिङ्गम् ...	१८१२	— २१

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहे ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ॥



तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम्,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्बयन्,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष २ }

श्रावण पूर्णिमा १९९२

{ अङ्क ७

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

कृष्णाष्टकम्—

भजे ब्रजैकमण्डनं समस्तपापखण्डनं
 स्वभक्तचित्तरञ्जनं सदैव नन्दनन्दनम् ।
 सुपिच्छगुच्छमस्तकं सुनादवेणुहस्तक-
 मनङ्गरङ्गसागरं नमामि कृष्णनागरम् ॥१॥
 मनोजगर्वमोचनं विशाललोललोचनं
 विधूतगोपशोचनं नमामि पद्मलोचनम् ।
 करारविन्दभूधरं स्मितावलोकसुन्दरं
 महेन्द्रमानदारणं नमामि कृष्णवारणम् ॥२॥
 कदम्बसूनकुण्डलं सुचारुगण्डमण्डलं
 ब्रजाङ्गनैकवल्लभं नमामि कृष्णदुर्लभम् ।
 यशोदया समोदया सगोपया सनन्दया
 युतं सुखैकदायकं नमामि गोपनायकम् ॥३॥
 सदैव पादपङ्कजं मदीयमानसे निजं
 दधानमुत्तमालकं नमामि नन्दबालकम् ।
 समस्तदोषशोषणं समस्तलोकपोषणं
 समस्तगोपमानसं नमामि कृष्णलालसम् ॥४॥
 भुवो भरावतारकं भवाब्धिकर्णधारकं
 यशोमतीकिशोरकं नमामि दुग्धचोरकम् ।
 दृगन्तकान्तभङ्गिनं सदासदालसङ्गिनं
 दिने दिने नवं नवं नमामि नन्दसंभवम् ॥५॥
 गुणाकरं सुखाकरं कृपाकरं कृपावरं
 सुरद्विषन्निकन्दनं नमामि गोपनन्दनम् ।
 नवीनगोपनागरं नवीनकेलिलम्पटं
 नमामि मेघसुन्दरं तडित्प्रभालसत्पटम् ॥६॥
 समस्तगोपनन्दनं हृदम्बुजैकमोहनं
 नमामि कुञ्जमध्यगं प्रसन्नभानुशोभनम् ।
 निकामकामदायकं दृगन्तचारुसायकं
 रसालवेणुगायकं नमामि कुञ्जनायकम् ॥७॥
 विदग्धगोपिकामनोमनोज्ञतल्पशायिनं
 नमामि कुञ्जकानने प्रवृद्धवह्निपायिनम् ।
 यदा तदा यथा तथा तथैव कृष्णसत्कथा
 मया सदैव गीयतां तथा कृपा विधीयताम् ॥८॥
 प्रमाणिकाष्टकद्वयं जपत्यधीत्य यः पुमान् ।
 भवेद्य नन्दनन्दने भवे भवे सुभक्तिमान् ।

—श्रीशङ्कराचार्याः ।

भाष्य

मायामात्रत्वात्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्तीति । नेत्युच्यते । सूचकश्च हि स्वप्नो भवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः । तथा हि श्रूयते—‘यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति । समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने’ (छा० ५।२।९) । तथा ‘पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति’ इत्येवमादिभिः स्वप्नैरचिरजीवित्वमावेद्यते इति श्रावयति । आचक्षते च स्वप्नाध्यायविदः—‘कुञ्जरारोहणादीनि स्वप्ने धन्यानि खरयानादीन्यधन्यानि’ इति । मन्त्रदेवताद्रव्यविशेषनिमित्ताश्च केचित् स्वप्नाः सत्यार्थगन्धिनो भवन्तीति मन्यन्ते । तत्रापि भवतु नाम सूच्यमानस्य

भाष्यका अनुवाद

स्वप्नके मायामात्र होनेसे उसमें परमार्थका लेशमात्र भी नहीं है । नहीं, यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं, क्योंकि स्वप्न भविष्यके भले और बुरेका सूचक होता है । इसी प्रकार श्रुति भी कहती है—‘यदा कर्मसु काम्येषु०’ (पुरुष काम्य कर्मोंमें जब स्वप्नमें स्त्रीको देखता है, तब उस स्वप्नका दर्शन होनेपर कार्यसिद्धि जाननी चाहिए) । तथा ‘पुरुषं कृष्णम्०’ (कालेदांतवाले कृष्ण पुरुषको स्वप्नमें देखता है, तो वह (स्वप्नदृष्ट) इस (स्वप्नद्रष्टा) को मार डालता है) इत्यादि स्वप्न अल्प-जीवित्वको सूचित करते हैं, ऐसा श्रुति श्रवण कराती है । और स्वप्नाध्यायको जानने-वाले कहते हैं—स्वप्नमें हाथीपर चढ़ना आदि धन्य—शुभ है और गदहापर चढ़ना अधन्य—अशुभ है । और मन्त्र, देवता, द्रव्यविशेष निमित्तसे उत्पन्न हुए कोई-कोई स्वप्न सत्य अर्थसे युक्त होते हैं, यह मानते हैं । स्वप्नमें सूचित वस्तु भलेही सत्य हो,

रत्नप्रभा

स्वप्नस्य भ्रान्तिमात्रत्वे तत्सूचितोऽप्यर्थः सत्यो न स्यादिति शङ्कोत्तरत्वेन सूत्रान्तरं व्याचष्टे—मायेत्यादिना । मन्त्रेण देवतानुग्रहेणौषधिसेवया वा स्वप्नाः सत्यसूचकाश्चेत् सत्याः स्युरित्यत आह—तत्रापि भवतु नामेति । सत्यहर्षहेतोरपि शुक्तिरूप्यस्य सत्यत्वाददर्शनादिति भावः । यथा कुषिद्वारा लाङ्गलस्य गवादिजीवन-निमित्तत्वम्, तथा स्वप्नभोक्तुरदृष्टद्वारा स्वप्नसृष्टिनिमित्तत्वम्, न तु कुम्भं प्रति

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्वप्नके भ्रान्तिमात्र होनेसे उससे सूचित अर्थ भी सत्य नहीं होगा, इस शंकाके उत्तररूपसे अन्य सूत्रका व्याख्यान करते हैं—“माया” इत्यादिसे । मन्त्रसे, देवताके अनुग्रहसे या औषधिके सेवनसे यदि स्वप्न सत्यसूचक हों, तो वे सत्य होंगे इसपर कहते हैं—“तत्रापि भवतु नाम” इत्यादिसे । यद्यपि शुक्तिरजत सत्यहर्षका हेतु है, तो भी उसका सत्यत्व दिखाई नहीं देता, ऐसा

भाष्य

वस्तुनः सत्यत्वम्, सूचकस्य तु स्त्रीदर्शनादेर्भवत्येव वैतथ्यम्, बाध्यमानत्वादित्यभिप्रायः। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्। यदुक्तम् 'आह हि' इति, तदेवं सति भाक्तं व्याख्यातव्यम्। यथा लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीति निमित्तमात्रत्वादेवमुच्यते, न तु प्रत्यक्षमेव लाङ्गलं गवादीनुद्वहति, एवं निमित्तमात्रत्वात् सुप्तो रथादीन् सृजते स हि कर्तेति चोच्यते, न तु प्रत्यक्षमेव सुप्तो रथादीन् सृजति। निमित्तत्वं त्वस्य रथादिप्रतिभाननिमित्तमोदत्रासादिदर्शनात् तन्निमित्तभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोः कर्तृत्वेनेति वक्तव्यम्। अपि च जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगादादित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चाऽऽत्मनः स्वयंज्योतिष्यत्वं दुर्वि-

भाष्यका अनुवाद

परन्तु स्त्रीदर्शन आदि सूचक असत्य होंगे, क्योंकि उनका बाध होता है, यह अभिप्राय है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वप्न मायामात्र—प्रातिभासिकमात्र है। 'आह हि' (क्योंकि श्रुति कहती है) ऐसा जो कहा गया है, उसका पूर्वोक्त रीतिसे स्वप्नके मायामात्र सिद्ध होनेपर वह अमुख्य है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए। जैसे 'हल बैल आदिका उद्वहन करता है' यह निमित्तमात्रसे कहा जाता है, परन्तु हल प्रत्यक्ष बैल आदिका उद्वहन नहीं करता, वैसे ही निमित्तमात्रसे सोया हुआ रथादिका प्रत्यक्ष निर्माण नहीं करता है, और वह कर्ता है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु सोया हुआ रथादिका प्रत्यक्ष निर्माण नहीं करता, इसका निमित्तत्व तो रथादिके प्रतिभाससे उत्पन्न हर्ष, त्रास आदिके दर्शनसे उनके निमित्तभूत सुकृत और दुष्कृतके कर्तृत्वरूपसे है, ऐसा कहना चाहिए। और जागरितमें विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे और आदित्य आदि ज्योतिके व्यतिकर

रत्नप्रभा

कुम्भकारस्येव साक्षात् स्वप्नकर्तृत्वम्, सामग्र्यभावबाधयोरुक्तत्वादित्याह—यदुक्तमित्यादिना। तथा च स्वप्नस्य सकर्तृकत्वं मुख्यं नास्तीति हेत्वसिद्धिरिति भावः। श्रुतितात्पर्यविरोधाच्च न स्वप्नसत्यतेत्याह—अपि चेति। व्यतिकरः—सङ्करः।

रत्नप्रभाका अनुवाद

भाव है। जैसे हल कृषिद्वारा बैल आदिके जीवनका निमित्त है, वैसे स्वप्नका भोक्ता अदृष्टद्वारा स्वप्नसृष्टिका निमित्त है, किन्तु जैसे कुम्हार घड़ेका साक्षात् निर्माता है, वैसे स्वप्नभोक्ता स्वप्नका साक्षात् कर्ता नहीं है, क्योंकि उसमें सामग्रीका अभाव है और बाध है, ऐसा पूर्वमें कहा गया है, ऐसा कहते हैं—“यदुक्तम्” इत्यादिसे। इस प्रकार स्वप्नका सकर्तृकत्व मुख्य नहीं है, अतः हेतुकी असिद्धि है यह भाव है। श्रुतितात्पर्यके विरोधसे भी स्वप्न सत्य नहीं है, ऐसा कहते हैं—

भाष्य

वेचनमिति तद्विवेचनाय स्वप्न उपन्यस्तः । तत्र यदि रथादिसृष्टिवचनं श्रुत्या नीयेत, तदा स्वयंज्योतिष्वं न निर्णीतं स्यात् । तस्माद्रथाद्यभाव-
वचनं श्रुत्या रथादिसृष्टिवचनं तु भक्तयेति व्याख्येयम् । एतेन निर्माणश्रवणं
व्याख्यातम् । यदप्युक्तम्—‘प्राज्ञमेनं निर्मातारमामनन्ति’ इति, तदप्यसत् ;
श्रुत्यन्तरे ‘स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति’

भाष्यका अनुवाद

—संमिश्रणसे आत्माके स्वयंज्योतिष्वका निर्वचन दुष्कर है, अतः उसके
निर्वचनके लिए स्वप्नका उपन्यास किया है । उसमें रथादिसृष्टिके वचनका यदि
श्रुतिके आधारपर निर्णय किया जाय, तो आत्माका स्वयंज्योतिष्व निर्णीत नहीं
होगा । इससे रथादिके अभावका वचन मुख्य अर्थमें है, और रथादि-सृष्टिका
वचन गौण है, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए । इससे निर्माणश्रुतिका व्याख्यान
हुआ । और ऐसा जो पूर्वमें कहा गया है कि प्राज्ञको स्वप्नप्रपञ्चका निर्माता कहते हैं,
वह उपेक्षणीय है, क्योंकि अन्य श्रुतिमें ‘स्वयं विहृत्य’ (अपने जाग्रत् शरीरको
निश्चेष्ट कर, स्वयं वासनासे शरीरका निर्माण करके अपने अन्तःकरणवृत्ति
प्रकाशसे और स्वरूपचैतन्यसे स्वप्नका अनुभव करता है) इस प्रकार जीवके

रत्नप्रभा

श्रुत्या तत्परयेत्यर्थः । जागरितादविशेषादिति भावः । फलितमाह—तस्मादिति ।
एतेनेति । भाक्तत्वेनेत्यर्थः । द्वितीयसूत्रोक्तप्राज्ञकर्तृकत्वहेतुरपि स्वप्नस्य किं श्रुति-
सिद्धः, उत प्राज्ञस्य सर्वेश्वरत्वात् सिद्धः ? नाद्यः इत्याह—यदप्युक्तमित्यादिना ।
स्वयं विहृत्य—जाग्रदेहं निश्चेष्टं कृत्वा, स्वयं वासनया देहं निर्माय, स्वेन भासा—
स्वीयबुद्धिवृत्त्या, स्वेन ज्योतिषा—स्वरूपचैतन्येन च स्वप्नमनुभवतीत्यर्थः । न केवलं

रत्नप्रभाका अनुवाद

“अपि च” इत्यादिसे । व्यतिकर—सङ्कर । श्रुत्या—रथादिसृष्टिपरक श्रुतिसे, यह अर्थ है ।
जाग्रदवस्थासे स्वप्नावस्थामें कुछ विशेष नहीं है, ऐसा भाव है । फलित कहते हैं—“तस्मात्”
इत्यादिसे । “एतेन” इत्यादि । गौण होनेसे, ऐसा अर्थ है । द्वितीय सूत्रमें स्वप्नका कर्ता जो
प्राज्ञ कहा गया है, वह क्या श्रुतिसिद्ध है या प्राज्ञके सर्वेश्वर होनेसे सिद्ध है ? आद्य पक्ष युक्त
नहीं है, ऐसा कहते हैं—“यदुक्तम्” इत्यादिसे । स्वयं विहृत्य—आप ही मारकर—जाग्रत्
देहको निश्चेष्ट करके, स्वयं वासनया देहका निर्माणकर, स्वेन भासा—अपने प्रकाशसे—अपनी
बुद्धिवृत्तिसे, स्वेन ज्योतिषा—अपनी ज्योतिसे—स्वरूप चैतन्यसे स्वप्नका अनुभव करता है,

भाष्य

(बृ० ४।३।९) इति जीवव्यापारश्रवणात् । इहापि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (क० ५।८) इति प्रसिद्धानुवादाजीव एवायं कामानां निर्माता संकीर्त्यते । तस्य तु वाक्यशेषेण 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म' इति जीवभावं व्यावर्त्य ब्रह्मभाव उपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।९।४) इत्यादिवदिति न ब्रह्मप्रकरणं विरुध्यते । न चाऽस्माभिः स्वप्नेऽपि प्राज्ञव्यवहारः प्रतिषिध्यते, तस्य सर्वेश्वरत्वात् सर्वास्वप्यवस्थास्वधिष्ठातृत्वोपपत्तेः । पारमार्थिकस्तु नायं

भाष्यका अनुवाद

व्यापारका श्रवण है । 'य एष सुप्तेषु जागर्ति' (जो यह इन्द्रियोंके निर्व्यापार होनेपर जागता है) यहाँ भी प्रसिद्धका अनुवाद होनेसे जीव ही इन कामनाओंका निर्माता कहा गया है । परन्तु जो 'तदेव शुक्रम्' (वही शुद्ध-स्वप्रकाश ब्रह्म है) इस वाक्यशेषसे उसके जीवभावकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मभावका उपदेश किया है, वह 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके समान है, अतः ब्रह्मप्रकरणका विरोध नहीं है । स्वप्नमें भी प्राज्ञके व्यवहारका हम प्रतिषेध नहीं करते हैं, क्योंकि वह सर्वथा ईश्वर होनेसे सभी अवस्थाओंमें अधिष्ठाता है । परन्तु वियद्-

रत्नप्रभा

बृहदारण्यके जीवस्य स्वप्नकर्तृत्वं श्रुतम्, किन्तु काठकेऽपीत्याह—इहापीति । जीवोक्तौ ब्रह्मप्रकरणविरोध इत्यत आह—तस्य त्विति । एवं हेतोः श्रुतिसिद्धत्वं निरस्य द्वितीयमङ्गीकरोति—न चाऽस्माभिरिति । तर्हि हेतुसिद्धेः स्वप्नस्य सत्य-त्वमित्याशङ्क्य सत्यत्वं व्यावहारिकं पारमार्थिकं वेति विकल्प्य व्यवहारकाले बाधदर्शनात् नाद्यः इत्याह—पारमार्थिकस्त्विति । द्वितीये दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा अर्थ है । केवल बृहदारण्यकमें ही जीवमें स्वप्नकर्तृत्व कहा गया है, ऐसा नहीं है, किन्तु काठकमें भी कहा गया है, ऐसा कहते हैं—“इहापि” इत्यादिसे । जीव कहनेसे ब्रह्म प्रकरणका विरोध होगा, इसलिए कहते हैं—“तस्य तु” इत्यादिसे । इस प्रकार स्वप्नका कर्ता प्राज्ञ है, इस हेतुके श्रुतिसिद्धत्वका निरसन करके दूसरे पक्षका—प्राज्ञ सर्वेश्वर होनेसे स्वप्नका कर्ता है, इस पक्षका अङ्गीकार करते हैं—“न चास्माभिः” इत्यादिसे । तब प्राज्ञकर्तृत्वरूप हेतुके सिद्ध होनेसे अनुमानसे स्वप्न सत्य है, ऐसी शंका करके, क्या स्वप्नका व्यावहारिक सत्यत्व साध्य है, या पारमार्थिक ? ऐसा विकल्पकर प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहारकालमें बाध देखा जाता है, ऐसा कहते हैं—“पारमार्थिकस्तु” इत्यादिसे । द्वितीय पक्षमें दृष्टान्त साध्यविकल है,

भाष्य

संध्याश्रयः सर्गो वियदादिसर्गवदित्येतावत् प्रतिपाद्यते । न च वियदादिसर्गस्याऽ-
प्यात्यन्तिकं सत्यत्वमस्ति, प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'
(ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम् । प्राक्तु
ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद् वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति । संध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः
प्रतिदिनं बाध्यत इति, अतो वैशेषिकमिदं संध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥४॥

भाष्यका अनुवाद

आकाश आदिके समान स्वाप्न प्रपञ्च पारमार्थिक नहीं है, इतना ही प्रतिपादन करते
हैं, और आकाशादिकी सृष्टि भी आत्यन्तिक सत्य नहीं है, क्योंकि 'तदनन्यत्व'
इत्यादि सूत्रमें सम्पूर्ण प्रपञ्च मायामात्र है, ऐसा प्रतिपादन किया जा चुका है ।
ब्रह्मात्मत्वज्ञानके पूर्वमें आकाश आदि प्रपञ्च व्यवस्थितरूपवाला है, परन्तु
स्वाप्न प्रपञ्चका प्रतिदिन बाध होता है, अतः स्वाप्नके मायामात्रत्वका यही विशेष
हेतु कहा गया है ॥ ४ ॥

रत्नप्रभा

मित्याह—न चेति । कस्तर्हि स्वप्नस्य जाग्रतो विशेषोऽत्र कथ्यत इत्याङ्शक्य
प्रातिभासिकत्वमित्याह—प्रागिति ॥ ४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा कहते हैं—“न च” इत्यादिसे । ऐसी स्थितिमें स्वप्नका जाग्रदवस्थासे क्या विशेष है ? ऐसी
आशंका करके प्रातिभासिकत्व—मिथ्यात्व विशेष है, ऐसा कहते हैं—“प्राग्” इत्यादिसे ॥४॥

पराभिध्यानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

पदच्छेद—पराभिध्यानात्, तु, तिरोहितम्, ततः, हि, अस्य, बन्धविपर्ययौ ।

पदार्थोक्ति—अस्य—जीवस्य, तिरोहितम्—आवृतम् [ऐश्वर्यम्] परा-
भिध्यानात्—ईश्वरस्य आभिमुख्येन ध्यानात् [अभिव्यक्तं भवति, कुतः?]
ततः बन्धविपर्ययौ—तस्मादज्ञातादीश्वरात् बन्धः ज्ञाताद्धि तस्मात् विपर्ययः—
मोक्षः [इति 'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः' इति श्रुतिर्दर्शयति । एवञ्च जीवेश्वर-
योरभेदेऽप्यैश्वर्यस्य तिरोहितत्वात् न जीवस्य सङ्कल्पमात्रेण स्रष्टृत्वम्] ।

भाषार्थ—जीवका अविद्या आदिसे व्यवहित ऐश्वर्य परमात्माके ध्यानसे
अभिव्यक्त होता है, क्योंकि ईश्वरका ज्ञान न होनेसे जीवका बन्ध और ज्ञान होनेसे
मोक्ष होता है, ऐसा 'ज्ञात्वा देवम्०' (ईश्वरको जानकर जीवके सब बन्धनोंका नाश
हो जाता है) यह श्रुति दिखलाती है । इस प्रकार जीव और ईश्वरके एक होनेपर
भी ऐश्वर्यके व्यवहित होनेसे जीव सङ्कल्पमात्रसे स्रष्टा नहीं हो सकता है ।

भाष्य

अथापि स्यात्—परस्यैव तावदात्मनोऽंशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः, तत्रैवं सति यथाऽग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवतः; एवं जीवेश्वरयोरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात् सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति । अत्रोच्यते—सत्यपि जीवेश्वरयोरांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम् । किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव ? न नास्त्येव । विद्यमानमपि तत् तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात् । तत् पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य

भाष्यका अनुवाद

परन्तु जैसे विस्फुलिंग अग्निका अंश है, वैसे ही जीव आत्माका अंश है, ऐसा होनेपर जैसे अग्नि और विस्फुलिंगमें जलाने और प्रकाश करनेकी शक्ति समान है, वैसे जीव और ईश्वरमें ज्ञानशक्ति और ऐश्वर्यशक्ति समान होगी, इसलिए जीवके ऐश्वर्यसे स्वप्नमें रथादिकी सृष्टि होगी । इसपर कहते हैं—यद्यपि जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव है, तो भी जीव ईश्वरसे विपरीत धर्मवाला है, यह प्रत्यक्ष है । तब क्या ईश्वरके समान धर्म जीवमें नहीं है ? नहीं है, ऐसा नहीं, क्योंकि समान-धर्मत्व विद्यमान है, तो भी अविद्या आदिके व्यवधानसे वह तिरोहित है ।

रत्नप्रभा

पूर्वं क्लृप्तसामान्यभावात् स्वप्नो माया इति उक्तम् अयुक्तम्, सत्यसङ्कल्पमात्रेणापि सत्यसृष्टिसम्भवात् इति शङ्कां कृत्वा परिहरन् सूत्रं व्याचष्टे—अथापि स्यादित्यादिना । सत्यसङ्कल्पस्य हि सङ्कल्पात् सृष्टिः सत्या भवति । जीवस्य तु असत्यसङ्कल्पत्वं प्रत्यक्षम् इति परिहारार्थः । तर्हि विरुद्धधर्मवत्त्वात् जीवस्य ईश्वरत्वं नास्त्येव इति शङ्कते—किमिति । नास्तीति न, किन्तु आवृत्तमस्ति, तत् पुनः ईश्वरप्रसादात् कस्यचित् व्यज्यते इत्याह—न नास्तीति । विधूतध्वा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

क्लृप्त सामग्रीके न होनेसे स्वप्न माया है, यह जो पूर्वमें कहा गया है वह असङ्गत है, क्योंकि सत्यसंकल्पमात्रसे भी सत्य सृष्टि हो सकती है, इस प्रकार शङ्का करके परिहाररूपसे सूत्रका व्याख्यान करते हैं—“अथापि स्यात्” इत्यादिसे । जिसका संकल्प सत्य है, उसके संकल्पसे सत्य सृष्टि हो परन्तु जीवका संकल्प तो असत्य है, यह प्रत्यक्ष है, यह परिहारका अर्थ है । तो विरुद्ध धर्मके होनेसे क्या जीवमें ईश्वरत्व नहीं है, ऐसी शङ्का करते हैं—“किम्” इत्यादिसे । जीवमें ईश्वरका समानधर्म नहीं है, ऐसा नहीं है, किन्तु आवृत्त है, अतः ईश्वरके प्रसादसे किसी एकको ही व्यक्त होता है, ऐसा कहते हैं—“न नास्ति” इत्यादिसे ।

भाष्य

तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदे-
वाऽऽविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम् । कुतः ? ततो हीश्वराद्वेतो-
रस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः । ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद् बन्धस्तत्स्वरूपपरि-
ज्ञानात्तु मोक्षः । तथा च श्रुतिः—

‘ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।

भाष्यका अनुवाद

यद्यपि वह तिरोहित है, तो भी परमेश्वरका ध्यान करनेवाले यन्नवान्
बिनष्टाज्ञान किसी एक सिद्ध पुरुषमें उस तिरोहित ज्ञान ऐश्वर्यका ईश्वरके
प्रसादसे आविर्भाव होता है, जैसे औषधके बलसे किसी एक जन्तुको रतौंघीसे
तिरस्कृत दृक्शक्ति प्राप्त होती है, स्वभावतः सब प्राणियोंको उत्पन्न नहीं
होती । किससे ? इससे कि ईश्वरसे जीवके बन्ध और मोक्ष होते हैं,
ईश्वरके स्वरूपका परिज्ञान न होनेसे बन्ध होता है और उसके स्वरूपके परिज्ञान-
से मोक्ष होता है, क्योंकि ‘ज्ञात्वा देवम्’ (‘यह मैं हूँ’ इस प्रकार देवके
ज्ञानसे अविद्यारूप सब पाशका क्षय होता है, अविद्यादि क्लेशोंके क्षीण होनेपर

रत्नप्रभा

न्तस्य—निष्पापस्य, संसिद्धस्य—अणिमादिविशिष्टस्य इत्यर्थः । ब्रह्मैवाऽहमिति
देवं ज्ञात्वा—साक्षात्कृत्य सर्वपाशानाम्—अविद्यादिक्लेशानामपहानिः—अपक्षयः
तद्रूपो भवति । क्षीणैश्च क्लेशैस्तत्कार्यजन्ममरणमात्मकबन्धध्वंस इति निर्गुणविद्या-
फलमाह—तस्येति । परस्य आभिमुख्येनाऽहंग्रहेण ध्यानाद् बन्धमोक्षापेक्षया
मन्त्रोक्तहानिद्वयापेक्षया वा, तृतीयं विश्वैश्वर्यमणिमादिरूपं मर्त्यदेहपाते सति सिद्धे

रत्नप्रभाका अनुवाद

विधूतध्वान्त—निष्पाप, संसिद्ध—अणिमादि सिद्धियोंसे युक्त ऐसा अर्थ है । ‘मैं ब्रह्म हूँ’ यह जान-
कर—साक्षात्कार करके सर्वपाशोंकी—अविद्यादि क्लेशोंकी अपहानि—नाश होता है, क्लेशोंके
क्षीण होनेपर उनका जो कार्य—जन्ममरणात्मक बन्ध है, उसका ध्वंस होता है, ऐसा निर्गुण
विद्याका फल कहा है । सगुण विद्याका फल कहते हैं—“तस्य” इत्यादिसे । परमात्माके
आभिमुख्य अहंग्रहसे—मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकारके—ध्यानसे बन्धमोक्षकी अपेक्षासे या मन्त्रोक्त
दो हानियोंकी—पाश हानि और जन्मादि हानिरूप पुरुषसिद्धिकी अपेक्षासे तीसरा विश्वैश्वर्य अर्थात्
निरतिशय ऐश्वर्य, अणिमादिरूप मर्त्य देहके पात होनेपर—सिद्ध देह होनेपर होता है, और

भाष्य

तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहमेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥
(श्वे० १।११) इत्येवमाद्या ॥ ५ ॥

भाष्यका अनुवाद

जनन-मरणादि दुःखहेतुका विनाश होता है, उस परमेश्वरके अभिध्यानसे शरीरपात होनेपर तृतीय विश्वैश्वर्यलक्षण फल होता है, वह अनुभवी उसका त्याग करके केवल पूर्णानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप होता है) इत्यादि श्रुति है ॥५॥

रत्नप्रभा

देहे भवति तद्भोगानन्तरम् आत्मज्ञानात् केवलः—द्वैतशून्यः आप्तकामः—
प्राप्तस्वयञ्ज्योतिरानन्दो भवति इति क्रममुक्तिः इत्यर्थः ॥ ५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका भोग करनेपर निर्गुण ज्ञानका उदय होनेसे—आत्मज्ञान होनेसे केवल द्वैतशून्य आप्त-
काम—स्वयंज्योतिरूप आनन्द जिसने प्राप्त किया है, ऐसा होता है, यह क्रममुक्ति है,
ऐसा अर्थ है ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

पदच्छेद—देहयोगाद्, वा, सः, अपि ।

पदार्थोक्ति—सोऽपि—जीवैश्वर्यतिरोभावोऽपि, देहयोगात्—देहादावात्मत्वा-
भिमानलक्षणाविद्यावशात् [भवति] ।

भाषार्थ—जीवके ऐश्वर्यका तिरोभाव भी देह आदिमें आत्मत्वाभिमानरूप
अविद्यासे होता है ।

भाष्य

कस्मात् पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति, युक्तं तु

भाष्यका अनुवाद

यदि जीव परमात्माका अंश ही है, तो उसका ज्ञान और ऐश्वर्य तिरस्कृत

रत्नप्रभा

उक्तैश्वर्यतिरोभावे देहाभिमानो हेतुरिति कथनार्थं सूत्रम्, तन्निरस्याऽऽशङ्काम्

रत्नप्रभाका अनुवाद

उक्त ऐश्वर्यके तिरोभावमें देहाभिमान कारण है, यह कहनेके लिए सूत्र है, उस सूत्रके

भाष्य

ज्ञानैश्वर्ययोरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति । उच्यते—
सत्यमेवैतत्, सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद् देहेन्द्रियमनो-
बुद्धिविषयवेदनादियोगाद् भवति । अस्ति चात्रोपमा—यथाऽग्नेर्दहनप्रकाशन-
सम्पन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतः, यथा वा भस्म-
च्छन्नस्य, एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात् तदविवेक-
भ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः । वाशब्दो जीवस्य ईश्वरादन्यत्वशङ्काव्या-
वृत्त्यर्थः । नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु, तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात् ; किं देहयोग-
कल्पनया ? नेत्युच्यते—नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते, 'सेयं देवतैक्षत' (छा०
६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्या-

भाष्यका अनुवाद

किस हेतुसे होता है ? प्रत्युत जैसे विस्फुलिङ्गके दहन और प्रकाश अतिरस्कृत
हैं, वैसे ईश्वरांश जीवका ज्ञान और ऐश्वर्य्य अतिरस्कृत होना चाहिए । कहते
हैं—यह सत्य है, तथापि जीवके ज्ञान और ऐश्वर्य्यका तिरोभाव देहके योगसे—
देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषयवेदना आदिके योगसे होता है । यहाँ
दृष्टान्त भी है जैसे अग्निमें यद्यपि दाह और प्रकाश है, तो भी अरणिगत
अग्निमें दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं अथवा जैसे भस्म-
च्छन्न अग्निके दहन और प्रकाशन तिरोहित होते हैं, इसी प्रकार अविद्यासे
प्रत्युपस्थापित नाम और रूपसे सम्पादित देह आदि उपाधियोंके योगसे उसके
अविवेकरूप भ्रमसे जीवके ज्ञान और ऐश्वर्य्यका तिरोभाव है । वाशब्द जीव
और ईश्वरकी अन्यत्वशङ्काकी निवृत्तिके लिए है । जीवको ईश्वरसे अन्य ही मानो,
क्योंकि उसका ज्ञान और ऐश्वर्य्य तिरस्कृत है, अतः देहयोगकी कल्पनासे क्या प्रयोजन
है ? नहीं, ऐसा कहते हैं—जीवका ईश्वरसे अन्य होना उपपन्न नहीं होता, क्योंकि
'सेयं देवतैक्षत' (उस देवताने विचार किया) ऐसा उपक्रम करके 'अनेन

रत्नप्रभा

आह—कस्मादिति । सत्यावरणं नास्ति इति अङ्गीकृत्य कल्पितावरणं साधयति—
उच्यते इत्यादिना । जीवस्य ईश्वरत्वमङ्गीकृत्याऽऽवरणकल्पनातो वरमन्यत्वकल्पना
इत्याशङ्कासुद्धान्य श्रुत्या निरस्यति—नन्वित्यादिना । स्वप्नेऽपि आलोकादेः सत्यत्वे

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वारा निराकार्य शङ्का कहते हैं—“कस्मात्” इत्यादिसे । सत्य आवरण नहीं है, ऐसा अङ्गीकार
करके कल्पित आवरणको सिद्ध करते हैं—“उच्यते” इत्यादिसे । जीवको ईश्वर मानकर आवरणकी
कल्पना करनेकी अपेक्षा जीव ईश्वरसे अन्य है, यह कल्पना अधिक भ्रष्ट है, ऐसी आशङ्का करके श्रुतिसे

भाष्य

त्मशब्देन जीवस्य परामर्शात् । 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।१।४) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्, अतोऽनन्य एवेश्वराजीवः सन् देहयोगात् तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति, अतश्च न सांकल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते । यदि च सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित् स्वप्नं पश्येत् । नहि कश्चिदनिष्टं संकल्पयते । यत्पुनरुक्तम्—जागारितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं ख्यापयतीति, न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं स्वयंज्योतिष्वविरोधात् । श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्, जागारितप्रभववासनानिर्मितत्वाच्च स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत् । तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

भाष्यका अनुवाद

जीवेन०' (इस जीवरूप आत्मा द्वारा अनुप्रवेश करके) इस प्रकार आत्मशब्दसे जीवका परामर्श है । वसी प्रकार 'तत्सत्यम्०' (वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतो ! वह तू है) इस प्रकार श्रुति जीवको ईश्वररूपताका उपवेश करती है, इससे सिद्ध हुआ कि जीव ईश्वरसे अनन्य ही है, किन्तु देहयोगसे उसके ज्ञानैश्वर्यका तिरोभाव होता है, इसलिए स्वप्न में रथादिसृष्टि जीवके संकल्पसे बनी है, यह नहीं घटता है । यदि स्वप्नमें संकल्पजन्य रथादिसृष्टि होती, तो कोई भी अनिष्ट स्वप्न नहीं देखता । क्योंकि कोई जीव अनिष्टका चिन्तन नहीं करता है । और यह जो कहा गया है कि जागारित-वेशश्रुति स्वप्नसृष्टिके सत्यत्वका ख्यापन करती है, [यह अयुक्त है] क्योंकि उस साम्यवचनका अभिप्राय सत्यत्व दिखलानेके लिए नहीं है, कारण कि आत्मा स्वयंप्रकाश है, इसके साथ विरोध है । और श्रुतिने ही स्वप्नमें रथादिका अभाव बतलाया है । जाग्रदवस्थामें उत्पन्न हुई वासनासे स्वप्न निर्मित है अतः स्वप्नका उस जाग्रदवस्थाके समान भान होता है, ऐसा इस श्रुतिका अभिप्राय है । इससे सिद्ध हुआ कि स्वप्न मायामात्र है ॥ ६ ॥

रत्नप्रभा

जाग्रतीव आत्मनः स्वप्नकाशत्वमस्फुटं स्यात्, प्रातिभासिकत्वे तु आलोकेन्द्रिया-सत्त्वेऽपि अर्थापरोक्ष्यमात्मज्योतिष एवेति स्फुटं सिध्यति । तस्मात् देशादि-साम्यवचनं स्वप्नस्य जाग्रदुल्लभानाभिप्रायम् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

उसका निरसन करते हैं—“ननु” इत्यादिसे । स्वप्नमें भी आलोक आदि सत्य हों, तो जाग्रदवस्थाके समान आत्माका स्वप्नकाश अस्फुट हो, प्रातिभासिक माननेपर तो आलोक, इन्द्रिय आदिके नहीं रहनेपर भी अर्थका जो प्रत्यक्ष हो जाता है, वह आत्माके प्रकाशसे ही है, ऐसा स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है । इसलिए स्वप्न जाग्रतके समान है ऐसा श्रुतिमें जो कहा गया है, उसका अभिप्राय यही है कि जाग्रदवस्थाके समान स्वप्नमें भान होता है ॥ ६ ॥

[२ तदभावाधिकरण सू०-७-८]

नाडीपुरीतद्ब्रह्माणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये ।

समुच्चितानि वैकार्थ्यादिकल्प्यन्ते यवादिवत् ॥१॥

समुच्चितानि नाडीभिरुपसृप्य पुरीतति ।

हृत्स्थे ब्रह्माणि यात्यैक्यं विकल्पे त्वष्टदोषता * ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म ये तीन सुषुप्तिके लिए विकल्पित हैं या समुच्चित हैं ?

पूर्वपक्ष—यव आदिके समान वे विकल्पित हैं, क्योंकि नाडी आदिका एक ही प्रयोजन है ।

सिद्धान्त—नाडी आदि सुषुप्तिके लिए समुच्चित हैं, क्योंकि नाडी द्वारा जीव गमन करके पुरीतत्से वेष्टित हृदयमें स्थित ब्रह्ममें ऐक्यको प्राप्त होता है । और विकल्प माननेपर अष्टदोष प्रसक्त होंगे ।

* इस अधिकरणका सार यह है कि 'आसु तदा नाडीषु सप्ते भवति' इस श्रुतिमें जीवका सुषुप्ति कालमें नाडीप्रवेश ज्ञात होता है, और 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' इस श्रुतिसे पुरीतत्में प्रवेश प्रतीत होता है, 'य षष्ठोऽन्तर्हृदये' इत्यादि श्रुतिसे आकाशशब्दवाच्य ब्रह्माश्रितत्व अवगत होता है । अतः वे सब नाडी आदि स्थान एक ही प्रयोजन होनेसे विकल्पित होंगे, क्योंकि जैसे 'ब्राह्मिर्भिर्यजेत' 'यवैर्वा' इत्यादि स्थलमें पुरोडाशरूप प्रयोजनके एक होनेसे विकल्प माना गया है, वैसे ही प्रकृत स्थलमें भी सुषुप्तिरूप प्रयोजन एक ही है, इससे किसी समय नाडीमें, तो कभी पुरीतत्में, तो कदाचित् ब्रह्ममें इस प्रकार नाडी आदिका विकल्प होगा ।

उक्त पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—यदि एक ही प्रयोजन हो, तो पूर्वपक्ष ठीक होगा, परन्तु यही असिद्ध है, क्योंकि उनका पृथक् प्रयोजन सुबन्त है—नाडियां तो चक्षु आदिमें संचरणशील जीवके हृदयनिष्ठ ब्रह्मके प्रति गमनके लिए मार्गभूत हैं, इसीलिए 'ताभिः प्रत्यवसृप्य' इत्यादि अन्य श्रुतिमें तृतीयासे नाडियोंमें साधनत्व कहा गया है । हृदयके वेष्टनरूप पुरीतत् तो महलके समान आवरक होगा और ब्रह्म खटियाकी नाई आधार होगा, इससे जैसे द्वारसे प्रवेश करके प्रासादमें पर्यङ्कपर सोता है, वैसे नाडी द्वारा गमन करके पुरीतत्में ब्रह्ममें सोवेगा, इस प्रकार उपकारके भेदसे नाडी आदिका समुच्चय है । सुषुप्तिमें यदि ब्रह्ममें जीवकी अवस्थिति है, तो आधारार्थेभाव क्यों नहीं भासता है ? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उस दशामें एकीभाव है, ऐसा कहते हैं । जैसे तालाबमें प्रक्षिप्त उदकसे भरा हुआ कुम्भ डूबनेपर अलग नहीं होता है, वैसे ही अन्तःकरणरूप उपाधिसे युक्त जीव आवरक अज्ञानसहित ब्रह्ममें मग्न होनेपर पृथक् भासित नहीं होता है । इसीलिए अन्य श्रुतिमें सुषुप्तिकालमें जीवका ब्रह्मके साथ तादात्म्य कहा गया है—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' । और विकल्प जो पूर्वपक्षी द्वारा कहा गया है, वह तो आठ दोषोंसे दुष्ट होनेके कारण अत्यन्त

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मानि च ॥ ७ ॥

पदच्छेद—तदभावः, नाडीषु, तच्छ्रुतेः, आत्मानि, च ।

पदार्थोक्ति—तदभावः—तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्य अभावः अर्थात् सुषुप्तम्, नाडीषु—सिरासु, आत्मानि—प्राज्ञे च [भवति अत्र नाडीष्वात्मानि चेति समुच्चयेन विकल्पो निरस्तः, स च समुच्चयः परमात्मनः प्राधान्येन इतरयोश्च नाडीपुरीततोर्गुणभूततया ज्ञेयः, कुतः ?] तच्छ्रुतेः—तेषां नाड्यादीनां सर्वेषां समुच्चयतः एव तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वस्य श्रवणात् [विकल्पे तु तेषां पक्षे बाधः स्यादिति भावः] ।

भाषार्थ—नाडी और आत्मा में सुषुप्ति होती है अर्थात् नाडी आदि सभी समुच्चयरूपसे सुषुप्तिके स्थान हैं, विकल्परूपसे नहीं, और वह समुच्चय परमात्मा में प्रधानतया है और इतर—नाडी और पुरीतत् में गौण है । क्योंकि तत्र तत्र श्रुतियों में नाडी आदि सब समुच्चयसे ही सुषुप्ति स्थान कहे गये हैं ?

भाष्य

स्वप्नावस्था परीक्षिता, सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते । तत्रैताः सुषुप्ति-विषयाः श्रुतयो भवन्ति । क्वचिच्छ्रूयते—‘तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः

भाष्यका अनुवाद

स्वप्नावस्था की परीक्षा हो चुकी, अब सुषुप्ति-अवस्था की परीक्षा की जाती है, वहाँ सुषुप्तिविषयक ये श्रुतियाँ हैं—‘तद्यत्रैतत्सुप्तः०’ (जिस काल में सम्पूर्ण करणवृत्तिका

रत्नप्रभा

एवं बाह्यकरणोपरमे सति मनोवासनोद्दीपिताविद्याविलासात्मकं स्वप्नमात्मनः

रत्नप्रभाका अनुवाद

इस प्रकार बाह्य करणों—इन्द्रियोंके उपरम होनेपर मनकी वासनासे उद्दीप्त हुई अविद्याका उपक्षेणीय है । वे आठ दोष इस प्रकारसे होंगे—जीव जब नाडी में सोवेगा तब पुरीतत् और ब्रह्म-वाक्य में प्राप्त प्रामाण्यका परित्याग करना होगा और अप्राप्त अप्रामाण्य मानना पड़ेगा और जब पुरीतत् और ब्रह्म में शयन करेगा तब पुरीतत् और ब्रह्मवाक्य में पूर्व में लक्ष्य प्रामाण्यका स्वीकार करना होगा तथा पूर्व में स्वीकृत अप्रामाण्य परित्यक्त होगा, इस प्रकार प्राप्तका परित्याग, अप्राप्तका स्वीकार, त्यक्तका स्वीकार और स्वीकृतका परित्याग—ये चार दोष पुरीतत् और ब्रह्मवाक्यकी कोटि में होंगे । इसी प्रकार नाडीवाक्यकी कोटि में भी चार दोषोंकी योजना करनेपर आठ दोष प्रसक्त होते हैं । इससे समुच्चय ही ग्राह्य है, विकल्प ग्राह्य नहीं है ।

भाष्य

स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति । अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति । तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य 'तासु तदा भवति

भाष्यका अनुवाद

उपसंहारकर जीव सोता है, उस कालमें [बाह्यविषयसम्पर्कजनित कालुष्यके न रहनेसे] सम्प्रसन्न होता हुआ स्वप्नको नहीं जानता है, क्योंकि उस अवस्थामें यह नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) अन्यत्र तो नाडीका ही अनुक्रमण करके सुना जाता है 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (उन नाडियों द्वारा पुरीतत्में जाकर हृदयके अन्दर ब्रह्ममें सोता है) उसी प्रकार अन्यत्र नाडीका ही अनुक्रमण करके 'तासु तदा भवति०' (उन नाडियोंमें तब होता है जब कि कुछ स्वप्न नहीं देखता, पीछे

रत्नप्रभा

साक्षिणः स्वयञ्ज्योतिष्पार्थं विचार्य प्रतियोग्यनुयोगिभावसङ्गत्या स्वप्नावस्थमनो-
ल्यात्मिकां सुषुप्तिं विचारयति—तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च । तदेतत्
स्वपनं यथा स्यात् तथा यत्र काले सुप्तः—सुषुप्तः समस्तः—निरस्तबाह्यकरणो मनो-
ल्यात् सम्यक् प्रसन्न इत्यर्थः । स्वापे नाडीस्थानमुक्त्वा नाडीपुरीततोः नाडी-
परमात्मनोः च समुच्चयश्रुती आह—अन्यत्रेति । परमात्ममात्रश्रुतीराह—तथान्य-
त्रेत्यादिना । नाडीपुरीतद्ब्रह्मसु सप्तमीश्रुतेः समुच्चयश्रुतेश्च संशयमाह—तत्रेति ।
पूर्वपक्षे स्थानविकल्पात् जीवस्य ब्रह्मैक्यानिर्णयः, सिद्धान्ते नाडीभिः पुरीततं
गत्वा अन्तर्हृदि ब्रह्मणि एव शेते इति समुच्चयात् तन्निर्णय इति विवेकः । एकपुरोडा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

विलास स्वप्न है, उस स्वप्नके साक्षीभूत आत्माके स्वयंप्रकाशके लिए विचारकर प्रतियोग्यनु-
योगिभाव सङ्गतिसे स्वप्नावस्थामें जब मनका लय होता है, तब सुषुप्ति होती है, उस सुषुप्तिका
विचार करते हैं—“तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च” । जिस कालमें सुप्त-सुषुप्त पुरुष
समस्त—बाह्य इन्द्रियोंके व्यापारसे शून्य होता है, तब वह अन्तःकरणके लयसे सम्यक् प्रसन्न
होता है, ऐसा अर्थ है । सुषुप्तिमें जीवका स्थान नाडी है, ऐसा कहकर नाडी और पुरीतत् एवं
नाडी और परमात्माकी समुच्चयश्रुति कहते हैं—“अन्यत्र” इत्यादिसे । केवल परमात्मामें लागू
होनेवाली श्रुतियां कहते हैं—“तथाऽन्यत्र” इत्यादिसे । नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म इन तीनों
शब्दोंमें सप्तमीश्रुति और समुच्चयश्रुतिसे संशय कहते हैं—“तत्र” इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें
जीवके सुषुप्तिस्थानका विकल्प होनेसे ब्रह्मैक्यका अनिर्णय फल है । सिद्धान्तमें नाडी द्वारा
पुरीतत्में जाकर हृदयके भीतर ब्रह्ममें ही शयन करता है, इस प्रकारके स्थानसमुच्चयसे

भाष्य

यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति । तथान्यत्र 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तमिन् शेते' इति । तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति । तथा 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति च । तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षतया भिन्नानि सुषुप्तिस्थानान्याहोस्वित् परस्परापेक्षतयैकं सुषुप्तिस्थानमिति ।

किं तावत् प्राप्तम् ? भिन्नानीति । कुतः ? एकार्थत्वात् । नह्येकार्थानां क्वचित् परस्परापेक्षत्वं दृश्यते ब्रीहियवादीनाम् । नाड्यादीनां चैकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्य-

भाष्यका अनुवाद

इस प्राणमें ही वह एक होता है) इस प्रकार कहा गया है । उसी प्रकार अन्य जगहमें सुना जाता है 'य एषोऽन्तर्हृदय०' (जो यह हृदयमें आकाश है उसमें सोता है) इस प्रकार अन्यत्र भी श्रुति है 'सता सोम्य ! तदा' (हे सोम्य ! उस कालमें सत्के साथ एकीभूत होता है, स्वमें—सद्रूपमें प्रलीन होता है) । और 'प्राज्ञेनात्मना०' (प्राज्ञ आत्माके साथ एकीभूत हुआ कुछ बाह्य या अन्तर नहीं जानता । उसमें संशय होता है—क्या ये नाडी आदि परस्पर निरपेक्ष होकर सुषुप्तिमें भिन्न भिन्नस्थान हैं अथवा परस्पर अपेक्षासे एक स्थान हैं ?

पूर्वपक्षी—यह प्राप्त हुआ कि भिन्नस्थान हैं । किससे ? इससे कि एकार्थत्व है, एकार्थक ब्रीहि, यव आदिका परस्पर सापेक्षत्व नहीं देखा जाता है । नाडी आदिकी एकार्थता तो सुषुप्तिमें देखी जाती है—'नाडीषु सृप्तो भवति०' 'पुरी-

रत्नप्रभा

शार्थत्वं ब्रीहियवयोः दृष्टं नाड्यादीनामेकस्मिन् स्वापरूपार्थे निरपेक्षस्थानवत्त्वं तु कुतः ? इत्यत आह—नाड्यादीनां चेति । सति—ब्रह्मणि, तृतीयाश्रुतेः न सप्तमीति

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मैक्यका निर्णय फल है, ऐसा विवेक है । जैसे ब्रीहि और यवका एक पुरोडाश प्रयोजन है, वैसे एक स्वरूप प्रयोजनमें नाडियोंका निरपेक्षस्थानत्व किस प्रकार है ? इसपर कहते हैं—'नाड्यादीनां च' इत्यादिसे । 'सति—ब्रह्मणि' यहाँपर तृतीयाका श्रवण होनेसे सप्तमी नहीं है, ऐसा शंकाका अभिप्राय है । वाक्यशेषमें आयतनशब्द होनेसे आधारत्व समझा जाता है, ऐसा

भाष्य

त्वात् । ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते—‘सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति’ (छा० ६।१।८।१) इति । नैष दोषः, तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात् । वाक्यशेषो हि ‘तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पति’ इत्याह । अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते’ (छा० ६।८।२) इति प्राणशब्देन तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात् । आयतनं च सप्तम्यर्थः । सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—‘सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे’ (छा० ६।९।२) इति । सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते । तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित् किञ्चित् स्थानं स्वापायोपसर्पतीति ।

भाष्यका अनुवाद

तति शेते’ इत्यादि स्थलोंमें सप्तमीका निर्देश तुल्य है । परन्तु ‘सता सोम्य तदा०’ इत्यादिमें सत्में सप्तमीका निर्देश नहीं देखा जाता है । यह दोष नहीं है, क्योंकि वहाँपर भी सप्तम्यर्थ गम्यमान है । क्योंकि उसमें वाक्यशेष ऐसा कहता है कि आयतनामिलायी जीव सत्में उपसर्पण करता है, ‘अन्यत्रायतनमलब्ध्वा०’ (अन्यत्र स्थान न पाकर प्राणमें ही आश्रय लेता है) इस प्रकार प्राण शब्दसे उसमें प्रकृतसत्का ग्रहण होनेसे । और सप्तमीका अर्थ आयतन है, इसी प्रकार सप्तमीका निर्देश भी उसी वाक्यशेषमें देखा जाता है—‘सति संपद्य० (सत्में एकीभूत होकर वे नहीं जानते की हम सत्में एकीभूत हुए हैं) । विशेष विज्ञानका उपरमरूप जो सुषुप्त है, वह सर्वत्र समान है, इसलिए नाडी आदि एकार्थ होनेसे जीव विकल्पसे कभी किसी स्थानमें सोनेके लिए जाता है,

रत्नप्रभा

शङ्कार्थः । आयतनशब्दात् सप्तम्यर्थः आधारत्वं गम्यते इत्याह—नैष दोष इति । अन्यत्र अवस्थाद्वये श्रान्तो जीवो विश्रान्तिस्थानं प्राणाख्यं सद् ब्रह्म उपसर्पति सुषुप्तौ इत्यर्थः । सप्तमीश्रुत्या निरपेक्षाधारत्वभानाद् विकल्प आस्थेयः । कदाचित् समुच्चित्याऽपि नाड्यादीनां स्थानत्वम् इति न समुच्चयश्रुतिविरोध इति पूर्वपक्षार्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

कहते हैं—“नैष दोषः” इत्यादिसे । अन्यत्र—दूसरी स्वप्न और जाग्रत् दो अवस्थाओंमें श्रान्त जीव सुषुप्तिमें विश्रान्तिस्थान प्राणाख्य सत् ब्रह्ममें जाता है, ऐसा अर्थ है । सप्तमीश्रुतिसे निरपेक्ष आधारका भान होनेसे विकल्प स्वीकार्य है, किसी समय समुच्चयसे नाडियाँ सुषुप्तिस्थान हैं, अतः समुच्चयश्रुतिसे विरोध नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्षका अर्थ है ।

भाष्य

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति । तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्रदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः । नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपसर्पति न विकल्पेनेत्यर्थः । कुतः ? तच्छ्रुतेः । तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते । तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति, विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात् । नन्वेकार्थत्वाद् विकल्पो नाड्यादीनां ब्रीहियवादिवदित्युक्तम् । नेत्युच्यते—नह्येक-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—उनका अभाव नाडियोंमें और आत्मामें होता है । उनका अभाव—उस प्रकृत स्वप्रदर्शनका अभाव, अर्थात् सुषुप्ति । नाडियोंमें और आत्मामें अर्थात् इन नाड़ी आदिमें जीव सुषुप्तिके लिए समुच्चयसे जाता है विकल्पसे नहीं, ऐसा अर्थ है । किससे ? उसकी श्रुति होनेसे । क्योंकि श्रुतिमें सब नाड़ी आदिका उस उस स्थलपर सुषुप्तिस्थानत्व कहा है और समुच्चय होनेपर वह संगृहीत होता है और विकल्प होनेपर पक्षमें बाध होगा । परन्तु एकार्थक होनेसे ब्रीहि, यव आदिके समान उनका विकल्प है,

रत्नप्रभा

सिद्धान्तयति—एवं प्राप्त इति । सूत्रे चकारः पुरीतत्समुच्चयार्थः । यदा नाड्यः सुषुप्तिस्थानम्, तदा पुरीतत्स्थानं न भवतीति श्रुतस्थानत्वस्य पक्षे बाधः स्यात्, स न युक्त इत्याह—विकल्पे ह्येषामिति । ब्रीहियवयोस्त्वगत्या विकल्प इति भावः । यत्तु सप्तमीश्रुत्या नाड्यादीनाम् एकफलकत्वम् इति, तन्नैत्याह—नह्येकेति । प्रासादस्य पर्यङ्गधारणमर्थः, पर्यङ्गस्य तु शयनमिति फलभेदेऽप्येकविभक्तिः दृश्यते, व्यवधानाव्यवधानाभ्यां शयनसाधनत्वात् समुच्चयश्च, तथा इहापि नाडी-पुरीततोर्जीवस्य सञ्चारद्वारा ब्रह्मणि एव सृप्तिः इति समुच्चय इत्यर्थः । नाडीनां

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्धान्त करते हैं—“एवं प्राप्ते” इत्यादिसे । सूत्रमें चकार पुरीतत्के समुच्चयके लिए है, जिस समय सुषुप्तिस्थान नाडियाँ होंगी, तब सुषुप्तिस्थान परीतत् नहीं होगा, इसलिए श्रुतस्थानत्वका पक्षमें बाध होगा, वह योग्य नहीं है इसपर कहते हैं—“विकल्पे ह्येषाम्” इत्यादिसे । ब्रीहि और यवका तो अगत्या विकल्प होता है, यह भाव है । सप्तमीश्रुतिसे नाडियोंमें एक फलकत्व जो कहा गया है, वह नहीं हो सकता है, ऐसा कहते हैं—“नह्येक” इत्यादिसे । पलङ्गका धारण ही प्रासादका अर्थ है और पलङ्गका तो प्रयोजन शयन है, अतः फलके भेद होनेपर भी एक विभक्ति देखी जाती है और साक्षात्परम्परया शयनके साधन होनेसे समुच्चय भी है,

भाष्य

विभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति । नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात् प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इत्येवमादिषु, तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः । तथा च श्रुतिः—‘तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति’ (कौषी० ४।१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयति, एकवाक्योपादानात् । प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—‘प्राणस्तथानुगमात्’ (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र । यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—‘आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति’ (छा० ८।६।३) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्य ब्रह्मणोऽप्रतिषेधान्नाडीद्वारेण ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते । न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीभिरपि

भाष्यका अनुवाद

यह कहा है, नहीं ऐसा कहते हैं, क्योंकि एक विभक्तिके निर्देशमात्रसे एकार्थत्व और विकल्प नहीं होते हैं, कारण कि जिनमें प्रयोजन भिन्न है उनमें और समुच्चयमें भी एक विभक्तिका निर्देश देखनेमें आता है—प्रासादे शेते, पर्यङ्के शेते, (महलमें झंझन करता है, पलङ्गपर सोता है) इत्यादिमें । वैसे यहां भी नाडियोंमें, पुरीतत्में और ब्रह्ममें सोता है, ऐसा समुच्चय उपपन्न होता है, क्योंकि ‘तासु तदा भवति यदा०’ (उन नाडियोंमें जीव उस दशमें रहता है, जब सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है, पीछे उस प्राणमें ही एकधा होता है) यह श्रुति सुषुप्तिमें नाडी और प्राणके समुच्चयका श्रवण कराती है, क्योंकि एक वाक्यसे उपादान है और ‘प्राणस्तथानुगमात्’ इत्यादि स्थलमें प्राण ब्रह्म है, ऐसा समधिगत है । ‘आसु तदा नाडीषु’ (तब यह नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) ऐसी श्रुति जहां निरपेक्षसी नाडियोंका श्रवण कराती है, वहां भी अन्य प्रदेशमें प्रसिद्ध ब्रह्मका प्रतिषेध न होनेसे नाडी द्वारा ही ब्रह्ममें जीव अवस्थित होता है, ऐसा प्रतीत होता

रत्नप्रभा

प्राणस्य च—एकेन वाक्येन उपादानात् मिथः समुच्चय इत्याह—एकवाक्येति । आधारत्वमात्रं सप्तम्यर्थः, न निरपेक्षत्वम् अतो न समुच्चयस्य सप्तम्या बाधः

रत्नप्रभाका अनुवाद

वैसे यहाँ भी नाडी और पुरीतत्में जीवके संचार द्वारा ब्रह्म ही में सुप्ति है, इसलिए समुच्चय है, ऐसा अर्थ है । प्राण और नाडियोंका एक वाक्यसे कथन है, अतः परस्पर समुच्चय है, ऐसा कहते हैं—“एकवाक्य” इत्यादिसे । सप्तमीका अर्थ आधारत्व ही है, निरपेक्षत्व नहीं, इससे

भाष्य

ब्रह्मोपसर्पन् सृप्त एव नाडीषु भवति । यो हि गङ्गाया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति । भवति चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वाद्नाडीस्तुत्यर्थं सृप्तिसंकीर्तनम् । 'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इत्युक्त्वा 'तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा० ८।६।३) इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति । ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८।६।३) इति । तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान् विषयानीक्षत इत्यर्थः । अथवा तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—ब्रह्मैव तेज एव' (बृ० ४।४।७) इति तेजःशब्दस्य

भाष्यका अनुवाद

हे । और ऐसे भी नाडीषु' (नाडियोंमें) यह सप्तमी विरुद्ध नहीं होती, क्योंकि नाडी द्वारा भी ब्रह्ममें जाता हुआ जीव नाडीमें ही प्रविष्ट होता है । क्योंकि जो गङ्गा द्वारा सागरमें जाता है, वह गङ्गामें गया हुआ होता ही है । इसी प्रकार यहाँ रश्मि—नाडी द्वारात्मक ब्रह्मलोक मार्ग विवक्षित होनेसे नाडीकी स्तुतिके लिए प्रवेश कहा है—'नाडीषु सृप्तो भवति' (नाडियोंमें प्रविष्ट होता है) ऐसा कहकर ' न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (उसको कोई पाप स्पर्श नहीं करता) इस प्रकार कहता हुआ वेद नाडीकी प्रशंसा करता है । और पाप स्पर्शके अभावमें 'तेजसा हि तदा' (क्योंकि तब तेजके साथ एकीभूत होता है) ऐसा हेतु कहता है । तेज अर्थात् नाडीगत पित्तसंज्ञक तेज द्वारा उसकी इन्द्रियाँ अभिव्याप्त होनेसे बाह्य विषयोंको वह नहीं देखता, ऐसा अर्थ है । अथवा 'तेजसा' (तेज द्वारा) यह ब्रह्मका ही निर्देश है, क्योंकि अन्य श्रुतिमें 'ब्रह्मैव तेज एव' (ब्रह्म ही है तेज ही है) इस प्रकार तेजशब्द ब्रह्मके लिए प्रयुक्त है,

रत्नप्रभा

इत्याह—न चैवमपीति । समुच्चयेऽपीत्यर्थः । अत्र नाडीश्रुतौ नाडीषु भोक्तुः सुप्तिः न विवक्षिता, रश्मिसम्बन्धनाडीरूपमार्गस्तुत्यर्थत्वात् इत्याह—अपि चेति । पित्तेन विषयेक्षणाभावे सुखदुःखयोः अभावात् तद्धेतुधर्माधर्मात्मकपाप्मास्पर्शः

रत्नप्रभाका अनुवाद

समुच्चयका सप्तमीश्रुतिसे बाध नहीं है, ऐसा कहते हैं—“न चैवमपि” इत्यादिसे । समुच्चय होनेपर भी ऐसा अर्थ है । यहाँ नाडीश्रुतिमें भोक्ताकी नाडियोंमें सुषुप्ति विवक्षित नहीं है, क्योंकि रश्मिसम्बन्धनाडीरूपमार्गकी स्तुति विवक्षित है । ऐसा कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । पित्तसे विषयोंका ईक्षण न होनेपर सुखदुःखके अभावसे उसके हेतु धर्म या

भाष्य

ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात् । ब्रह्मणा हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः । ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः, 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः' (छा० ८।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवञ्च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनाऽनुगतो नाडीनां समुच्चयः समधिगतो भवति । तथा पुरीततोऽपि ब्रह्म-प्रक्रियायां संकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुषुप्तिस्थानत्वं ज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे सुषुप्तिस्थाने प्रकृते

भाष्यका अनुवाद

नाडी द्वारा जीव ब्रह्मके साथ एकीभूत होता है, अतः कोई भी पाप उसको स्पर्श नहीं करता, ऐसा अर्थ है । और 'सर्वे पाप्मानो०' (सब पाप इससे निवृत्त होते हैं, क्योंकि जिसमें पापका नाश हुआ है, ऐसा यह ब्रह्मलोक है) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके साथ एकत्व पापके स्पर्शके अभावमें हेतु समझा जाता है । ऐसा होनेसे अन्य प्रदेशमें सुषुप्तिस्थानरूपसे प्रसिद्ध ब्रह्मके साथ अनुगत नाडियोंका समुच्चय अधिगत होता है । इसी प्रकार पुरीतत्वा भी ब्रह्मके प्रकरणमें संकीर्तन होनेसे वह भी ब्रह्मके अनुगुण ही सुप्तिस्थानरूपसे ज्ञात होता है—'एषोऽन्तर्हृदय०' (जो यह हृदयके भीतर आकाश है उसमें सोता है) इस प्रकार

रत्नप्रभा

इत्यर्थः, अपहतपाप्मब्रह्मसम्पत्त्या वा पाप्मास्पर्शः इत्याह—अथवेति । अस्मिन् व्याख्याने लाभम् आह—एवञ्च सतीति । 'तासु तदा भवत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति' इति श्रुतेः समुच्चय आश्रितो भवतीत्यर्थः । नाडीब्रह्मणोः गुण-प्रधानभावेन सुप्तौ समुच्चयवत् पुरीतद्ब्रह्मणोः अपि इत्याह—तथेत्यादिना । 'आकाशे ब्रह्मणि शेते' इति उपक्रम्य 'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' इत्युक्तम् ,

रत्नप्रभाका अनुवाद

अधर्मरूप पापका स्पर्श नहीं होता, ऐसा अर्थ है । अथवा जिसके पापका नाश हो गया है ऐसे ब्रह्मकी सम्पत्तिसे पापका स्पर्श नहीं होता, ऐसा कहते हैं—“अथवा” इत्यादिसे । इस व्याख्यानमें लाभ कहते हैं—“एवं च सति” इत्यादिसे । 'तासु तदा०' (तब उन नाडियोंमें होता है, बादमें इस प्राणके साथ एकीभूत होता है) इस श्रुतिसे प्रतिपादित समुच्चय आश्रित होता है, ऐसा अर्थ है । जैसे नाडी और ब्रह्मका सुप्तिमें गुणप्रधानभावसे समुच्चय होता है, वैसे पुरीतत्वा और ब्रह्मका भी होता है, ऐसा कहते हैं—“तथा” इत्यादिसे । आकाशमें अर्थात् ब्रह्ममें शयन करता है, ऐसा उपक्रम करके 'ताभिः प्रत्यवसृप्य०' (नाडी द्वारा गमन करके

भाष्य

इदमुच्यते—‘पुरीतति शेते’ (बृ० २।१।१९) इति । पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते । तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयानः शक्यते पुरीतति शेते इति वक्तुम् । प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि हि पुरे वर्तमानः प्राकारे वर्तते इत्युच्यते । हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्, ‘दहर उत्तरेभ्यः’ (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र । तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि ‘ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते’ (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते । सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वम् । एवम् एतासु श्रुतिषु त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि संकीर्तितानि—नाड्यः, पुरीतद्, ब्रह्म चेति । तत्रापि च द्वारमात्रं नाड्यः पुरीतच्च, ब्रह्मैव त्वेकम् अनपायि सुषुप्तिस्थानम् । अपि च नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति—

भाष्यका अनुवाद

हृदयाकाशका सुषुप्तिस्थानरूपसे उपक्रम करके ‘पुरीतति शेते’ (पुरीतत्में शयन करता है) ऐसा कहा है । हृदयके परिवेष्टनको ‘पुरीतत्’ कहते हैं । उसके भीतर स्थित भी हृदयाकाशमें शयन करता हुआ जीव पुरीतत्में शयन करता है, ऐसा कहा जा सकता है । कोटसे घिरे हुए शहरमें रहनेवालेको कोटमें रहता है, ऐसा कहा जाता है, हृदयाकाश ब्रह्म है, यह ‘दहर उत्तरेभ्यः’ इस सूत्रमें समझाया गया है । उसी प्रकार नाडी और पुरीतत्का समुच्चय भी ‘ताभिः प्रत्यवसृप्य’ (नाडियों द्वारा गमन करके पुरीतत्में शयन करता है) इस प्रकार एक वाक्यके उपादानसे समझा जाता है । सत् और प्राज्ञ ब्रह्म हैं, यह प्रसिद्ध है । इस प्रकार इन श्रुतियोंमें तीनोंको ही सुषुप्तिस्थान कहा है—नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म । उसमें भी नाडी और पुरीतत् द्वारमात्र हैं, ब्रह्म ही अकेला सुषुप्तिस्थान है । और नाडियाँ या पुरीतत् जीवकी उपाधिका आधार

रत्नप्रभा

तथा च नाडीद्वारा पुरीततं गत्वा ब्रह्मणि शेते इति समुच्चयः सिद्ध इत्याह—
तथा नाडीति । सता सम्पन्नो भवति, प्राज्ञेन सम्परिष्वक्तः, इति सत्प्राज्ञयोः
श्रुतेः पञ्च सुषुप्तिस्थानानि इत्यत आह—सत्प्राज्ञयोरिति । किञ्च, प्रकृतदर्शादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

पुरीतत्में शयन करता है) ऐसा कहा गया है, इसलिए नाडी द्वारा पुरीतत्में जाकर ब्रह्ममें शयन करता है, इस प्रकार समुच्चय सिद्ध होता है, ऐसा कहते हैं—“तथा नाडी” इत्यादिसे । परन्तु ‘सता सम्पन्नो’ (जीव सत्के साथ एकीभूत होता है), ‘प्राज्ञेन सम्परिष्वक्तः’ (प्राज्ञसे जुटा हुआ) इस प्रकार श्रुतिमें सत् और प्राज्ञ कहा गया है, इससे जीवके सुषुप्तिस्थान पांच

भाष्य

तत्राऽस्य करणानि वर्तन्त इति । नष्टुपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याऽऽधारः कश्चित् सम्भवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात् । ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते, कथं तर्हि ? तादात्म्याभिप्रायेण । यत आह—‘सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति’ स्वमपीतो भवति’ (छा० ६।८।१) इति । स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुषुप्तो भवतीत्यर्थः । अपि च न कदाचित् जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति, स्वरूपस्याऽनपायित्वात् ।

भाष्यका अनुवाद

ही होता है, क्योंकि उनमें इसकी इन्द्रियाँ रहती हैं । और उपाधि-संबन्धके बिना जीवका स्वतः कोई आधार ही नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ब्रह्मसे अभिन्न होता हुआ अपनी महिमामें प्रतिष्ठित है । अतः सुषुप्तिमें जीवका आधार ब्रह्म हैं, यह भी आधार और आधेयके भेदके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है, किन्तु तादात्म्यके अभिप्रायसे कहा गया है, क्योंकि श्रुति कहती है कि ‘सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति०’ (हे सोम्य तब सत्के साथ जीव एकीभूत होता है, अपनेमें प्रलीन होता है) स्वशब्दसे आत्मा कहा जाता है । सोया हुआ अपने स्वरूपको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ है । और ब्रह्मके साथ कदाचित् भी जीवकी सम्पत्ति न हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप विनाशशील नहीं

रत्नप्रभा

साधनैकपुरोडाशनिष्पत्तौ मिथोऽनपेक्षतया समर्थत्वात् युक्तो ब्रीहियवयोः विकल्पः, नाड्यादीनां तु ब्रह्मनिरपेक्षतया सुषुप्तजीवाधारत्वासामर्थ्यात् न विकल्प इत्याह— अपि च नाड्य इति । उपाधिलिङ्गाश्रयनाडीपुरीततोः उपहितजीवाश्रयत्वं परम्परया वाच्यम्, तदपि सुषुप्तौ न सम्भवति, उपाधिलयात् इत्यर्थः । ननु ब्रह्मापि जीवस्य न मुख्यं स्थानम्, अमेदात्, इत्यत आह—ब्रह्माधारत्वमिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

होते हैं, ऐसा कहते हैं—“सत्प्राज्ञयोः” इत्यादिसे । किंच, प्रकृत दर्श आदिका साधन जो एक पुरोडाश है, उसकी निष्पत्तिमें परस्पर अनपेक्ष होनेके कारण ब्रीहि और यव इन दोनोंका विकल्प युक्त है; परन्तु ब्रह्मसे निरपेक्ष नाडी आदिका तो सुषुप्त जीवके आधारत्वमें असामर्थ्य है, इससे उनका विकल्प युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—“अपि च नाड्य” इत्यादिसे । उपाधिलिङ्गके आश्रय जो नाडी और पुरीतत् हैं, वे उपाधिवाले जीवके परम्परासे आश्रय होते हैं, ऐसा कहना चाहिए । परन्तु परम्परासे भी नाडी और पुरीतत् सुषुप्तिमें जीवके

भाष्य

स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात् पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात् सुषुप्ते स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते—स्वमपीतो भवति इति । अतश्च सुषुप्तावस्थायां कदाचित् सता संपद्यते कदाचिन्न सम्पद्यत इत्युक्तम् । अपि च स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत् सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते, तत्र सति सम्पन्न-स्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम् । ‘तत् केन कं विजानीयात्’

भाष्यका अनुवाद

हे । स्वप्न और जागरितमें तो उपाधिके सम्पर्कसे [जागरितमें स्थूल और सूक्ष्म शरीर और स्वप्नमें सूक्ष्म शरीररूप उपाधिके सम्पर्कसे] भिन्नरूपकी प्राप्ति-सी होती है और उसकी अपेक्षासे सुषुप्तिमें उपाधिके शान्त होनेसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहा जायगा—स्वमपीतो भवति इत्यादि । इससे सुषुप्ति अवस्थामें कभी स्वरूपापत्ति होती है और कभी नहीं होती है, यह कथन अयुक्त है । यदि स्थानका विकल्प किया जाय तो भी विशेष विज्ञानका अभावलक्षण जो सुषुप्त है उसका भेद कहीं नहीं होता है, उसमें सत्के साथ स्वरूपापन्नके एक होनेसे नहीं जानता है, यह युक्त है, क्योंकि ‘तत्केन कं विजानीयात्’ (किस कारणसे

रत्नप्रभा

जीवस्य ब्रह्मणि अभेदेन अवस्थानम्, नाडीपुरीततोः तु लीनोपाधेः जीवस्य स्थितिः एव न सम्भवति इति एकार्थसामर्थ्याभावात् न विकल्पः इत्यर्थः । सुषुप्तौ जीवस्य भेद-कोपाधिलयात् च औत्सर्गिकब्रह्माभेदस्य विकल्पो न युक्त इत्याह—अपि चेति । किञ्च, नाड्यादीनामन्यतमस्थाने क्वचित् सुप्तिवादिनापि सुषुप्तं न विशिष्यत इति वक्तव्यम्, तच्च वक्तुं न शक्यत इत्याह—अपि च स्थानेति । भेदाभावो हि भेदज्ञानाभावे हेतुः, नाडीपुरीतद्वतस्य तु जीवस्य भेदस्थवत्त्वात् भेदाविज्ञाने

रत्नप्रभाका अनुवाद

आश्रय नहीं हो सकते, क्योंकि सुषुप्तिमें उपाधिका लय होता है, ऐसा अर्थ है । इसी प्रकार ब्रह्म भी जीवका मुख्य स्थान नहीं है, क्योंकि जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, इसपर कहते हैं—“ब्रह्माधारत्वम्” इत्यादिसे । जीवकी ब्रह्ममें अभेदसे अवस्थिति है, नाडी और पुरीतत्में तो लीन उपाधिवाले जीवकी स्थिति ही नहीं हो सकती, इसलिए एकार्थमें सामर्थ्य न होनेसे विकल्प नहीं है, ऐसा अर्थ है । सुषुप्तिमें जीवकी भेदक उपाधिका लय होनेसे औत्सर्गिक ब्रह्माभिन्न जीवका विकल्प युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । किंच, नाडी आदिके किसी एक स्थानमें सुषुप्ति कहनेवालेको भी सुषुप्ति भिन्नरूप नहीं है ऐसा कहना होगा, परन्तु वह कह नहीं सकते, ऐसा कहते हैं—“अपि च स्थान” इत्यादिसे । भेदका अभाव

भाष्य

(बृ० २।४।१४) इति श्रुतेः । नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किञ्चिद-
विज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुम् , भेदविषयत्वात् , 'यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रा-
न्योऽन्यत् पश्येत्' (बृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः । ननु भेदविषयस्याप्यति-
दूरादिकारणमविज्ञाने स्यात् । बाढम् एवं स्यात् , यदि जीवः स्वतः परि-
च्छिन्नोऽभ्युपगम्येत, यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यतीति, न तु
जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते । उपाधिगतमेवातिदूरादि
कारणमविज्ञाने इति यद्युच्येत, तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात् सत्येव सम्पन्नो न

भाष्यका अनुवाद

किसको जाने) ऐसी श्रुति है । नाडी और पुरीतत्में सोनेवाले जीवके अज्ञानमें
किसी कारणको नहीं जान सकते हैं, क्योंकि 'यत्र वाऽन्यदिव०' (जहाँ अन्यसा
होता है वहीं अन्य अन्यको देखता है) इस श्रुतिसे भेद उसका विषय है । परन्तु
भेदविषयके भी अज्ञानमें अतिदूरादि कारण होंगे ? सत्य है, यदि जीव स्वतः
परिच्छिन्न माना जाय, जैसे प्रवासी विष्णुमित्र अपने घरको नहीं देखता, परन्तु
जीवका तो उपाधिसे भिन्न परिच्छेद नहीं है । उपाधिगत अतिदूरादि अज्ञानमें
कारण हैं, ऐसा यदि कहो, तो भी उपाधिका उपशम होनेसे सत्के साथ ही

रत्नप्रभा

कारणं नास्तीत्यर्थः । द्वैतावस्थस्यापि द्वैताज्ञाने हेतुं शङ्कते—ननु भेदेति ।
द्रष्टुः दृश्याद् दूरस्थत्वं स्वाभाविकम् औपाधिकं वा ? तत्र आद्यं सदृष्टान्तम् अनूद्य
प्रत्याह—बाढमित्यादिना । द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—उपाधिगतमेवेति ।
उपाधिसंभिन्नस्यैव नाड्यादौ स्वापे कतिपयसन्निकृष्टार्थज्ञानप्रसङ्गात् सुषुप्तिव्याघातः
स्यात् । उपाधिलये तु अन्यत्र जीवस्य स्थित्ययोगात् ब्रह्मणि एव स्वापः

रत्नप्रभाका अनुवाद

ही भेदज्ञानके अभावमें हेतु है, परन्तु नाडी और पुरीतत्में गये हुए जीवकी तो भेदावस्था है,
अतः भेदके अविज्ञानमें कोई कारण नहीं है, ऐसा अर्थ है । यदि द्वैतावस्थामें जीव हो,
तो भी द्वैतके अज्ञानमें हेतु है, ऐसी शंका करते हैं—“ननु भेद” इत्यादिसे । यदि द्रष्टा
दृश्य पदार्थसे दूर हो, तो वह दूरस्थिति स्वाभाविक है या औपाधिक ? उसमें प्रथम
पक्षका दृष्टान्तपूर्वक अनुवाद करके निराकरण करते हैं—“बाढम्” इत्यादिसे । द्वितीय
पक्षका अनुवाद करके उसका निराकरण करते हैं—“उपाधिगतमेव” इत्यादिसे । यदि उपाधिसे
संभिन्न ही जीवका नाडी आदिमें स्वाप हो, तो कतिपय सन्निकृष्ट पदार्थोंके ज्ञानका प्रसंग
आनेसे सुषुप्तिका व्याघात होगा । परन्तु उपाधिका लय होनेपर जीवकी अन्यत्र स्थिति अयुक्त है,

भाष्य

विज्ञानातीति युक्तम् । न च वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः । नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतच्चेत्यनेन विज्ञानेन किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, नद्येतद्-विज्ञानप्रतिबद्धं किञ्चित् फलं श्रूयते । नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्गमुप-दिश्यते । ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत् प्रतिपादयामः । तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्तत्वा-वधारणं च । तस्मादात्मैव सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

भाष्यका अनुवाद

एकीभूत होता हुआ नहीं जानता यह युक्त है । और हम यहाँ ब्रह्मके तुल्य नाडी आदिके समुच्चयका प्रतिपादन नहीं करते हैं । क्योंकि नाडियाँ और पुरीतत् सुप्तिस्थान हैं, इस विज्ञानका कोई प्रयोजन नहीं है, और इस विज्ञानसे कोई फल भी नहीं सुना जाता है । इसी प्रकार यह विज्ञान किसी फलवान्का अङ्ग भी उपदिष्ट नहीं है, ब्रह्म तो अनपायि सुप्तिका स्थान है, यह प्रतिपादन करते हैं । और इस विज्ञानका तो प्रयोजन—जीव ब्रह्म है, और वह जागरित और स्वप्नके व्यवहारसे मुक्त है, इस प्रकारका अवधारण है । इससे आत्मा ही सुषुप्तिका स्थान है ॥७॥

रत्नप्रभा

आस्थेय इत्यर्थः । एवं विकल्पं निरस्य नाडीपुरीततोः ब्रह्मणा सह तुल्यवत्समुच्चयम् अफलत्वेन दूषयन् गुणप्रधानत्वेन समुच्चयम् उपसंहरति—न च वयमित्यादिना ॥ ७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अतः ब्रह्ममें ही जीवका स्वाप होता है ऐसा मानना चाहिए, ऐसा अर्थ है । इस प्रकार विकल्पका निरसन करके नाडी और पुरीततका ब्रह्मके साथ समुच्चय तुल्य हो, वह भी नहीं है, क्योंकि उसमें फल नहीं है, इस प्रकार समुच्चयको दूषित करते हुए गुणप्रधानभावसे समुच्चयका उपसंहार करते हैं—“न च वयम्” इत्यादिसे ॥ ७ ॥



अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

पदच्छेद—अतः, प्रबोधः, अस्मात् ।

पदार्थोक्ति—[यतः परमात्मैव प्रधानतया सुषुप्तिस्थानम्] अतः—एतत्-कारणात्, अस्मात्—परमात्मनः [जीवस्य] प्रबोधः—उत्थानम् [स्वापाधिकारे] 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' इत्यादिना उपदिश्यते ।

भाषार्थ—प्रधानतया परमात्मा ही सुषुप्तिस्थान है, इसी कारणसे परमात्मासे जीवके प्रबोधका उपदेश स्वापाधिकारमें 'सत आगम्य' इत्यादि श्रुतिसे किया गया है ।

भाष्य

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणाभित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २।१।२०) इत्यादिना । 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६।१०।२) इति च । विकल्प्यमानेषु तु

भाष्यका अनुवाद

आत्मा ही सुप्तिस्थान है, इसी कारणसे स्वापके प्रकरणमें 'कुत एतत्०' (यह कहाँसे आया) इस प्रश्नके प्रतिवचनके अवसरमें 'यथाग्नेः०' (जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, वसी प्रकार इस आत्मासे सब प्राण उत्थान करते हैं) इत्यादि श्रुति । और 'सत आगम्य०' (सतसे आकर वे नहीं जानते कि हम सतसे आये हैं) यह श्रुति भी उस आत्मासे जीवके नित्य (प्रतिदिन)

रत्नप्रभा

किञ्च, ब्रह्मणः सकाशात् जीवस्य उत्थानश्रुतेः ब्रह्मैव सुषुप्तिस्थानम् इत्याह सूत्रकारः—अतः प्रबोध इति । नाडीपुरीततोः काप्युत्थानापादानत्वाश्रवणात्

रत्नप्रभाका अनुवाद

किञ्च ब्रह्मसे जीवका उत्थान होता है, ऐसी श्रुति होनेसे ब्रह्म ही सुषुप्तिस्थान है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—“अतः प्रबोधः” इत्यादिसे । कहीं पर भी नाडी या पुरीतत्में उत्थानकी अपादानताका

भाष्य

सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित् पुरीततः कदाचिदात्मन
इत्यशसिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रबोधका उपदेश करती है । यदि सुषुप्तिस्थानोंका विकल्प होता तो कदाचित्
नाडियोंसे कदाचित् पुरीतत्वे और कदाचित् आत्मासे जीवका प्रतिबोध होता है,
ऐसा उपदेश करती । इससे भी सिद्ध हुआ कि आत्मा ही सुप्तिस्थान है ॥८॥

रत्नप्रभा

न सुषुप्तिस्थानत्वमित्यर्थः । तस्मात् उपाधिलये जीवस्य ब्रह्माभेदात् औपाधिक एव
भेद इति विवेकात् वाक्यार्थाभेदसिद्धिः इति स्थितम् ॥ ८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

श्रवण नहीं है, इससे वे (नाडी आदि) सुप्तिस्थान नहीं हैं, ऐसा अर्थ है । इस कारणसे उपाधिका
लय होनेपर जीव और ब्रह्मका अभेद होता है, अतः उनका भेद औपाधिक ही है, इस प्रकारके
विवेकसे वाक्यार्थका अभेद सिद्ध होता है, ऐसी स्थिति है ॥ ८ ॥



[३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण सू० ९]

यः कोऽप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा ।

उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोऽपि बुध्यते ॥१॥

कर्माविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः ।

स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात्* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—सुषुप्तिके अनन्तर कोई अन्य जीव जागता है अथवा वही जागता है ?

पूर्वपक्ष—जैसे समुद्रमें प्रक्षिप्त जलबिन्दुका फिर उद्धारण नहीं हो सकता है, वैसे ही ब्रह्ममें लीन जीवका पुनः उठना सम्भव नहीं है, अतः कोई अन्य ही जीव उठता है ।

सिद्धान्त—कर्म और अविद्याके परिच्छेदसे जलबिन्दुका दृष्टान्त विषम है, अतः वही जीव जागता है, क्योंकि 'त इह व्याघ्रो वा०' इत्यादि शास्त्रसे जिस उपाधिसे युक्त जीव सुषुप्तिमें जाता है उस उपाधिसे विशिष्ट ही जीवका उसी शरीरमें पुनर्भव सिद्ध है ।

* तात्पर्य यह है—जैसे जिस जल-बिन्दुका समुद्रमें प्रक्षेप किया गया हो, उसीका पुनः नियमसे उद्धारण नहीं किया जा सकता, वैसे ही सुषुप्तिमें जो जीव ब्रह्मको प्राप्त हुआ है, वही पुनः उठता है यह कहना अत्यन्त अशक्य है, इसलिए कोई नवीन ही जीव जागता है । इस प्रकारका पूर्वपक्ष होनेपर—

सिद्धान्ता कहते हैं कि पूर्वपक्षीका उपन्यास विषम है अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें अत्यन्त भेद है, क्योंकि कर्म और अविद्यासे वेष्टित चिद्रूप जीव ब्रह्ममें लीन होता है और जलबिन्दु तो किसीसे वेष्टित समुद्रमें लीन नहीं होता है । और सुनो, जैसे गङ्गाजलसे पूर्ण पिहितद्वार काञ्चनकुम्भ यदि समुद्रमें फेककर पुनः निकाला जाय तो घटस्थित वही गंगाजल पृथक् हो सकता है, वैसे अविद्यादिसे वेष्टित वही जीव उठे तो क्या हानि है ? अतएव भगवती श्रुति भी कहती है—'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा' इस श्रुतिका अर्थ है कि व्याघ्रादि जो जीव सुषुप्तिके पूर्वमें जिस शरीरको प्राप्तकर रहते हैं, वे ही जीव सुषुप्तिके बाद जागनेपर उसी व्याघ्रादि शरीरको प्राप्त करते हैं । यदि यह शंका हो कि सुषुप्तिमें ब्रह्माभूत जीवका मुक्तके समान पुनः उद्भव नहीं हो सकता है, तो वह असङ्गत है; क्योंकि अवच्छेदक उपाधिके रहनेपर उस जीवके उद्भवमें कोई हानि नहीं है । अतः जो सोचा है वही जीव जागता है यह सिद्ध हुआ ।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

पदच्छेद—स, एव, तु, कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।

पदार्थोक्ति—[यः सुप्तः—स्वास्थ्यं गतो जीवः] स एव तु [जीवः प्रतिबुध्यते, नान्यः, कुतः ?] कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः—कर्मादिभ्यः पञ्चभ्यो हेतुभ्यः । [दिनद्वयसाध्यं कर्म सामि कृत्वा सुप्तो भूय उत्थाय शिष्टं तत्करोति, अत्र अनु प्रत्यभिज्ञां सूचयति, सा च—‘योऽहं गतदिने घटमद्राक्षं स एवैतर्हि स्पृशामि’ इत्येवंरूपा, अनुभवानन्तरं संस्कारमात्रेण जायमानं ‘स घटः’ इत्यादिकं ज्ञानं स्मृतिपदवाच्यम्, ‘पुनः प्रतिन्यायम्’ इत्यादिः शब्दः । विधिशब्देन कर्मविद्याविधय उच्यन्ते । यदि सुप्तस्य भूय उत्थानं न स्यात्, तदा उक्ता इमे हेतवो बाध्येरन्; अतः सुप्त एवोच्छिष्टति इति भावः] ।

भाषार्थ—जो जीव सोता है, वही जीव जागता है, क्योंकि कर्म, अनु, स्मृति, शब्द और विधि ये पाँच कारण हैं । दो दिनमें पूर्ण होनेवाले कार्यको आधा करके सोया हुआ फिर दूसरे दिन उठकर उसी अवशिष्ट कार्यको करता है । अनु-शब्दसे यहाँ प्रत्यभिज्ञा विवक्षित है—‘जिस घटको मैंने कल देखा था उसीका स्पर्श आज करता हूँ’ इत्यादि । अनुभवके बाद होनेवाला संस्कारमात्रजन्य ज्ञान स्मरण है—‘वही घट’ इत्यादि, ‘पुनः प्रतिन्यायम्’ इत्यादि श्रुतियाँ शब्द हैं । विधिशब्द कर्मविधि और विद्याविधिका कथन करता है । अगर सुप्त पुरुषका उत्थान न माना जाय, तो कहे गये ये पाँच हेतु बाधित होंगे; अतः सोया हुआ जीव ही उठता है यह निर्विवाद है ।

भाष्य

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव

भाष्यका अनुवाद

वस सत्सम्पत्तिसे जागनेवाला कौन है ? क्या जो सत्सम्पन्न हुआ है वही जागता है,

रत्नप्रभा

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । सुषुप्तौ उपाधिनाशात् कर्मानुस्मृ-

रत्नप्रभाका अनुवाद

“स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः” । सुषुप्तिमें उपाधिके नाशसे कर्म की, अनुस्मृति आदिके

भाष्य

प्राप्तेषुध्यते उत स वा अन्यो वा इति चिन्त्यते ।

तत्र प्राप्तं तावत्—अनियम इति । कुतः ? यदा हि जलराशौ कश्चिजल-
बिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति, पुनरुद्धरणे च स एव जलबिन्दु-
र्भवतीति दुःसंपादम्, तद्वत् सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः सम्प्रसीदतीति न स एव
पुनरुत्थातुमर्हति, तस्मात् स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इति ।

भाष्यका अनुवाद

या उससे अन्य ही कोई जागता है ? ऐसा विचार किया जाता है ।

पूर्वपक्षी—उसमें अनियम है, ऐसा प्रथम प्राप्त होता है । किससे ? इससे
कि जब जलराशिमें किसी एक जलबिन्दुका प्रक्षेप होता है तब वह जलराशि ही
हो जाता है, फिर उद्धरण करनेपर वही जलबिन्दु निकल आवे, यह असम्भव
है, उसी प्रकार सोया हुआ—परमात्माके साथ एकीभूत हुआ संप्रसाद प्राप्त
करता है, अतः वही अनन्तर उठे यह युक्त नहीं है, इसलिए वही ईश्वर या
अन्य जीव प्रतिबुद्ध होता है ।

रत्नप्रभा

त्यादेः दर्शनात् च संशये सति अस्माद् ब्रह्मणः जीवस्य उत्थानश्रुतेः ब्रह्मैव सुषुप्ति-
स्थानम् इति उक्तम् अयुक्तम् । सुप्तात् अन्यस्य अपि उत्थानसम्भवेन सुषुप्तस्य
नाड्यादिस्थानत्वसम्भवादित्याक्षेपसङ्गत्या नियामकाभावात् अनियम इति पूर्व-
पक्षमाह—तस्याः पुनरित्यादिना । पूर्वपक्षे ज्ञानवैयर्थ्यम्, सुषुप्त्यैवापुनरावृत्तिरूप-
मुक्तिसिद्धेः, सिद्धान्ते तु अज्ञातब्रह्मात्मना स्थितस्य अज्ञानबलेन पुनः तस्यैव उत्था-
नावश्यम्भावाद् अज्ञाननाशाय ज्ञानापेक्षेति फलम् । ‘ईश्वरो वा’ इत्यनियमदार्ढ्यायोक्तम्
‘स वान्यो वा’ इत्येव पूर्वपक्षः । ज्ञानं विना बुद्ध्याद्युपाधेरत्यन्तनाशाभावात् यया
बुद्ध्या उपहितो जीवः सुषुप्तौ कारणात्मना स्थितः तयैव नानाकर्मानुभव-

रत्नप्रभाका अनुवाद

दर्शनसे संशय होनेपर इस ब्रह्मसे जीवके उत्थानका श्रवण है, अतः ब्रह्म ही सुषुप्तिस्थान है,
यह कथन सङ्गत नहीं है । सुप्तसे अन्यके भी उत्थानका सम्भव है, इससे नाडी आदि सुषुप्तके
स्थान हो सकते हैं, इस प्रकार आक्षेपसङ्गतिसे नियामकके न रहनेपर अनियम है, ऐसा
पूर्वपक्ष कहते हैं—“तस्याः पुनः” इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें ज्ञानका वैयर्थ्य है, क्योंकि सुषुप्तिसे
अपुनरावृत्तिरूप मुक्ति की सिद्धि हो सकती है । सिद्धान्तमें तो अज्ञात ब्रह्मरूपसे स्थितका अज्ञानके
बलसे फिर उसीका उत्थान अवश्यभावी होनेसे अज्ञानके नाशके लिए ज्ञानकी अपेक्षा है,
यह फल है । ‘ईश्वरो वा’ यह तो अनियमकी दृढताके लिए कहा गया है । ‘स वान्यो वा’ यही
पूर्वपक्ष है । ज्ञानके बिना बुद्धि आदि उपाधिके अत्यन्त नाशका अभाव है, अतः जिस बुद्धिसे

भाष्य

एवं प्राप्ते, इदमाह—स एव तु जीवः सुप्तः—स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः । कस्मात् ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि । कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात् तावत् स एवोत्थातुमर्हति नान्यः । तथा हि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन् दृश्यते, न चान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमुत्सहते, अतिप्रसङ्गात् । तस्मादेक एव पूर्वद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते । इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात् स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते, नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति । सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नाव-

भाष्यका अनुवाद

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते हैं—वही जीव सोनेसे स्वास्थ्यको प्राप्त हुआ—पुनः जागता है, अन्य नहीं । किससे ? कर्म, अनु, स्मृति, शब्द और विधिसे । विभागकर हेतुको दिखलाऊंगा । अवशिष्ट कार्यके अनुष्ठानके दर्शनसे वही जीव उठता है, अन्य नहीं । प्रथम दिनमें आरब्ध कर्मके अवशिष्ट अंशको दूसरे दिन पूर्ण करता हुआ देखा जाता है, एकके आधे किए गये कार्यकी शेषक्रियामें अन्य प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि अतिप्रसङ्ग होगा । इसलिए एक ही जीव पहले और दूसरे दिनमें एक कार्यका कर्ता है, ऐसा जाना जाता है । और वही जीव निद्रासे उठता है, क्योंकि पूर्व दिनमें ‘इसको देखा था’ इस प्रकार पूर्वानुभूतके अनन्तर होनेवाले स्मरणकी अन्यके उठनेपर उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अन्यसे देखी गई वस्तुका अनुस्मर्ता अन्य नहीं हो सकता है । इसी प्रकार ‘सोऽहम्’ (वह मैं हूँ) इस प्रकारका

रत्नप्रभा

संस्कारवत्योपहित उत्तिष्ठति इति सिद्धान्तयति—स एव त्वित्यादिना । सामिकृतस्य अर्धकृतस्य एकस्य एव ज्योतिष्टोमादेः अनेकयजमानकत्वापातः—अतिप्रसङ्गः । स्मृतिम् उक्त्वा अनुशब्दसूचितां प्रत्यभिज्ञाम् आह—सोऽहमिति । अयनम्—गमनम्—आयः । योनिः तत्तदिन्द्रियस्थानम्, प्रतिनियतं गमनं यथा भवति, तथा

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपहित जीव सुषुप्तिमें कारणरूपसे स्थित है, उसी अनेक कर्मानुभवसंस्कारवती बुद्धिसे उपहित वह उठता है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—“स एव तु” इत्यादिसे । सामिकृत—अर्थात् अर्धकृत एक ही ज्योतिष्टोम आदिमें अनेक यजमानकत्वकी प्राप्तिरूप अतिप्रसङ्ग है । स्मृति कहकर अनुशब्दसे सूचित प्रत्यभिज्ञा कहते हैं—“सोऽहम्” इत्यादिसे । अयन—गमन—

भाष्य

कल्पते । शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते । तथा हि—‘पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्ववति बुद्धान्तायैव’ (बृ० ४।३।१६) ‘इमाः सर्वाः प्रजा अह-
रहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति’ (छा० ८।३।२) ‘त इह व्याघ्रो
वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको
वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति’ (छा० ६।९।३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वाप-
प्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः । कर्मविद्याविधि-
भ्यश्चैवमेवावगम्यते, अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः । अन्यो-
त्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत । एवं चेत्स्यात्, वद किं

भाष्यका अनुवाद

अनुसन्धान अन्यके जागनेपर नहीं हो सकता है । श्रुतिके शब्दोंसे भी वही जीव जागता है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि ‘पुनः प्रतिन्यायम्’ (प्रतिनियत गमन जैसे होता है, वैसे प्रतियोनि जीव जागरणके लिए आता है) ‘सर्वाः प्रजाः’ (सब प्रजा प्रतिदिन [सुषुप्तिकालमें] जाती हैं, तो भी इस ब्रह्मलोकको नहीं जानती) ‘त इह व्याघ्रो वा’ (इस लोकमें वे व्याघ्र या सिंह, भेड़िया या वराह, कीट या पतंग, दंश या मशक जो जो हुए होते हैं, वे ही होते हैं) इत्यादि स्वप्न और प्रबोधके अधिकारमें पड़े हुए शब्द अन्य आत्माके उत्थानमें समंजस नहीं होंगे । कर्मविधि और विद्याविधिसे भी ऐसा ही समझा जाता है, अन्यथा कर्मविधि और विद्या-विधि निरर्थक हो जायँगी । अन्यके उत्थानपक्षमें सोये हुए सभी मुक्त हो जायँगे, ऐसी आपत्ति प्रसक्त होगी । यदि ऐसा हो, तो इसका उत्तर दो कि जिसका फल

रत्नप्रभा

प्रतियोनि-आगच्छति जागरणाय इति श्रुत्यर्थः । न विन्दन्तीति अज्ञानसत्त्वात् सुप्तस्योत्थाननियम उक्तः, इह पूर्वप्रबोधे ये भवन्ति ते एव तदा उत्तरप्रबोधे भवन्तीत्यर्थः । विधिं व्याचष्टे—कर्मिति । स एवोत्तिष्ठतीति निश्चीयते इत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

आय । योनि—तत् तत् इन्द्रियोंका स्थान प्रतिनियत गमन जिस प्रकार होता है, वैसे प्रतियोनि जागरणके लिए आता है, ऐसा श्रुतिका अर्थ है । ‘न विन्दन्ति’ इससे अज्ञानकी सत्ता होनेसे सुप्तके उत्थानका नियम कहा गया । इसमें पूर्वप्रबोधमें जो होते हैं, वे ही उसके उत्तरके प्रबोधमें होते हैं, ऐसा अर्थ है । विधिकी व्याख्या करते हैं—“कर्म” इत्यादिसे । वही उठता है,

भाष्य

कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात् । अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात् । अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत् कल्पनानर्थक्यं स्यात् । यो हि यस्मिञ्शरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात् । अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत । निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम् । एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात् । अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम् । तस्मात् स एवोत्तिष्ठति नान्य इति । यत् पुनरुक्तम् यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति सम्पन्नो जीवो

भाष्यका अनुवाद

कालान्तरमें होनेवाला है, उस कर्म और विद्याका फल क्या होगा ? अन्यके उत्थानपक्षमें अन्य शरीरमें व्यवहारको करने वाला जीव उठे, तो उसके व्यवहारका लोपप्रसङ्ग होगा । यदि सुप्त ही उठे तो कल्पना निरर्थक होगी । क्योंकि जो जिस शरीरमें सोता है वह उस शरीरमें नहीं उठता परन्तु एक शरीरमें सोता है और अन्य शरीरमें उठता है, इस प्रकारकी कल्पनामें लाभ क्या होगा ? यदि मुक्त पुरुष उठे, तो मोक्ष नाशवान् होगा जिसकी अविद्या निवृत्त हुई है उसका पुनरुत्थान नहीं हो सकता है, इससे ईश्वरका उत्थान होता है, इस पक्षका निराकरण हुआ, क्योंकि वह सदा अविद्यासे निवृत्त है, अन्यके उत्थानमें अकृतका अभ्यागम और कृतकी हानि दुर्बार होगी, अतः वही उठता है, अन्य नहीं । और जो कहा था कि जैसे जलराशिमें प्रक्षिप्त जलबिन्दु नहीं निकलता, वसी प्रकार ब्रह्मके

रत्नप्रभा

अत्रैवोत्सूत्रं युक्त्यन्तरमाह—अपि चेत्यादिना । अन्योत्थाने सुखादेर्न पूर्वकर्मकार्यतेत्यकृतसुखाद्यागमः पूर्वसुप्तजीवकृतकर्मनाशश्चेत्यर्थः । पूर्वपक्षयुक्तं दृष्टान्तं वैषम्येण दूषयति—यत्पुनरित्यादिना । अस्मदाद्यशक्यमपि विवेचनं

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसा निश्चय किया जाता है, ऐसा अर्थ है । यही अन्य युक्ति कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । अन्यके उत्थानमें सुखादि पूर्वकर्मके कार्य नहीं होंगे, इसलिए अकृत सुखादिका अभ्यागम होगा, प्रथम सुप्तजीवके किये हुए कर्मोंका विनाश प्राप्त होगा, ऐसा अर्थ है । पूर्वपक्षी द्वारा कहे गये दृष्टान्तको विषमतासे दूषित करते हैं—“यत्पुनः” इत्यादिसे । हम लोगोंसे अशक्य भी

भाष्य

नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिहियते—युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जल-
बिन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम् ।
दृश्यते च दुर्विवेचनयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हसेन विवेच-
नम् । अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव
जलराशेः सतो विविच्येत, सदेव तूपाधिसम्पर्काजीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्र-
पञ्चितम् । एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः,
उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः । स एवायमुपाधिः स्वा-
पप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम् ॥९॥

भाष्यका अनुवाद

साथ संपन्न जीव उठ नहीं सकता है, इसका परिहार किया जाता है—विवेक-
कारणके अभावसे वहाँ जलबिन्दुका अनुद्धरण युक्त है, यहाँ तो विवेक-कारण
अविद्या और कर्म हैं, अतः वैषम्य है । संसृष्ट जल और क्षीरका विवेचन यद्यपि
हम लोग नहीं कर सकते हैं, तथापि हँस द्वारा जल और क्षीरका विवेचन होता है,
यह देखा जाता है । और दूसरी बात यह भी है कि जीव परमात्मासे अन्य नहीं है, जो
जल-राशिमें जलबिन्दुके समान विविक्त हो, परन्तु ब्रह्म ही उपाधिके सम्पर्कसे जीव
रूपसे उपचरित होता है, यह बारंवार कहा जा चुका है । ऐसा होनेपर जबतक
एक उपाधिगत बन्धकी अनुवृत्ति है तबतक एक जीवका व्यवहार होता है, बन्धकी
अनुवृत्ति अन्य उपाधिगत होगी, तब अन्य जीवका व्यवहार होता है, सुषुप्तिमें
और प्रबोधमें वही उपाधि बीजाङ्कुरन्यायसे है, अतः वही जीव प्रबुद्ध होता है ॥९॥

रत्नप्रभा

प्राण्यदृष्टापेक्ष ईश्वरः करोतीति मत्वा दृष्टान्तमाह—दृश्यते चेति । ब्रह्माभेदात्
च जीवस्य जलबिन्दुवैषम्यमित्याह—अपि चेति । अभेदे ‘स वान्यो वोत्तिष्ठतीति
चिन्तानवकाश इत्याशङ्क्य बुद्धिभेदेन जीवभेदात् च चन्तेत्याह—एवं सतीति ।
सुषुप्तौ बुद्धिनाशेन प्रत्यहं बुद्ध्युपाधिभेदादेकजीवव्यवहारो न स्यादित्यत
आह—स एवायमिति । स्थूलसूक्ष्मात्मना तिष्ठत्येकोपाधिः इत्यर्थः ॥ ९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विवेचन प्राणीके अदृष्टसे ईश्वर करता है, इस प्रकार मानकर दृष्टान्त कहते हैं—“दृश्यते च”
इत्यादिसे । ब्रह्मके साथ अभेद होनेसे जीव जलके बिन्दुसे विलक्षण है, ऐसा कहते हैं—
“अपि च” इत्यादिसे । अभेद होनेपर वह उठता है या अन्य उठता है, इस प्रकारके
विचारका अवकाश नहीं है, ऐसी आशङ्का करके बुद्धिके भेदसे जीव-भेद होनेसे विचार होता है,
ऐसा कहते हैं—“एवं सति” इत्यादिसे । सुषुप्तिमें बुद्धिका नाश होनेसे प्रतिदिन बुद्धिरूप उपाधिके
भेदसे एक जीवका व्यवहार नहीं होगा, इसपर कहते हैं—“स एवायम्” इत्यादिसे । स्थूल
और सूक्ष्मरूपसे एक उपाधि रहती है, ऐसा अर्थ है ॥ ९ ॥

[४ मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरण सू० १०]

किं मूर्च्छाका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् ।

अन्यावस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥१॥

न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभावाच्च सुसता ।

मुखादिविकृतेस्तेनाऽवस्थाऽन्या लोकसम्भता* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—मूर्च्छा अवस्था क्या जाग्रद् आदि अवस्थाओंमें अन्तर्भूत है अथवा उनसे अलग है ?

पूर्वपक्ष—संसारमें जाग्रद् इत्यादिसे दूसरी अलग अवस्था कोई प्रसिद्ध नहीं है, अतः उन्हींमें मूर्च्छाका समावेश है ।

सिद्धान्त—मूर्च्छा जाग्रत् या स्वप्नरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि उस अवस्थामें द्वैत नहीं है । सुप्तावस्था भी नहीं है, कारण कि मुख आदिमें विकार भासता है; अतः मूर्च्छा नामकी लोकप्रसिद्ध अवस्था अन्य ही है ।

* यहाँ पूर्वपक्षीका मनोगत भाव यह है कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे अन्य कोई अवस्था जगत्प्रसिद्ध न होनेके कारण मूर्च्छा उन तीनोंमेंसे किसी एकमें अन्तर्भूत है, पृथक् नहीं है ।

इसपर सिद्धान्ती कहते हैं—यद्यपि आपाततः पूर्वपक्षीका मत संगतसा प्रतीत हो रहा है, परन्तु कुछ अधिक विचार करनेसे वह मत बालुकाप्रासादसा ज्ञात होगा, क्योंकि यह साधारण मतिमान् भी जान सकता है कि जाग्रत् और स्वप्नमें द्वैत प्रतीत होता है, लेकिन मुग्ध अवस्थामें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती, अतः पूर्वपक्षीको जबर्दस्ती स्वीकार करना होगा कि मूर्च्छा अवस्थाका उन दोनोंमें अन्तर्भाव नहीं है । और सुषुप्तिमें तो उसका अन्तर्भाव कह ही नहीं सकते, क्योंकि सोया हुआ प्राणी अत्यन्त स्वस्थ और अविकृत रहता है, किन्तु मूर्च्छित जनमें वह बात नहीं है प्रसृत मुखमें मोलिन्य और विकृतभाव दिखता है अतः परिशेषसे यह स्वीकार करना होगा कि मूर्च्छा अवस्था पृथक् है । लोकमें इस अवस्थाका व्यवहार तो अवश्य ही होता है परन्तु वह कदाचित् दुर्दैव-विपाकसे प्राप्त होती है, अतः नित्य व्यवहारमें उसकी गणना नहीं है, इसीलिए ज्ञानवृद्ध व्यास प्रभृति आचार्य उसका विचार करनेमें उपेक्षा नहीं करते हैं ।

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

पदच्छेद—मुग्धे, अर्धसम्पत्तिः, परिशेषात् ।

पदार्थोक्ति—[मूर्च्छावस्थाया न स्वप्नजागरितयोर्मरणे वाऽन्तर्भावः, तत्र ज्ञानाभावस्य प्राणोष्मणोश्च सत्त्वात्, नापि सुप्तिः, भयानकवदनत्वादिना तस्या वैलक्षण्यात्, किन्तु परिशेषात्—प्राप्तस्य प्रतिषेधेऽन्यत्राप्राप्तसङ्गाच्छिष्यमाणे वस्तुनि यः सम्पत्त्ययः सः परिशेषः तस्मात् मुग्धे—मूर्च्छावस्थायाम्, [हृत्पुण्डरीकावच्छिन्ने ब्रह्मणि देहाद्यभिमानविशिष्टस्य जीवस्य] अर्धसम्पत्तिः अर्धलयः [भवति, अतः उक्तावस्थान्नयवैलक्षण्यात् मूर्च्छावस्था ततो भिन्नेति भावः]

भाषार्थ—स्वप्न और जागरित अवस्थाको मूर्च्छा नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें विशेष ज्ञान नहीं रहता, मरण भी नहीं कह सकते, क्योंकि मूर्च्छा में प्राण और उष्णता रहती है, भयानकवदन आदि होनेसे मूर्च्छा सुषुप्ति नहीं है। किन्तु परिशेषसे मूर्च्छावस्थामें हृत्पुण्डरीकावच्छिन्न ब्रह्ममें देहाद्यभिमानविशिष्ट जीवका अर्धलय होता है, अतः उक्त तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण होनेके कारण मुग्धावस्था पृथक् है ।

भाष्य

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति, स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते—तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य

भाष्यका अनुवाद

मुग्ध वह है, जिसे लोग मूर्च्छित कहते हैं । उसकी अवस्था कौनसी है ? ऐसा विचार—प्रश्न उपस्थित होनेपर—

रत्नप्रभा

अवस्थात्रयादात्मानं विविच्य मूर्च्छातो विवेचयति—मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात् । मूर्च्छा प्रसिद्धाऽवस्थान्तर्गता वा पञ्चमावस्था वा इति अवस्थाचतुष्टयप्रसिद्धेर्मुग्धस्य तद्वैलक्षण्याच्च संशये सति सोऽहमिति प्रत्यभिज्ञयोत्थितस्य सुप्तमेदवद्विशेषज्ञानाभावाविशेषेण लिङ्गेन सुषुप्तिरेव मूर्च्छेति प्रत्यभिज्ञानात् सुषुप्त्यन्तर्गता

रत्नप्रभाका अनुवाद

तीन अवस्थाओंसे आत्माका विवेचन करके अब मूर्च्छासे उसका विवेचन करते हैं—“मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्” । मूर्च्छा प्रसिद्ध अवस्थाओंके अन्तर्गत है या पांचवीं अवस्था है ? चार अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं और मुग्धावस्था उनसे एक विलक्षण अवस्था है, इससे संशय होनेपर उत्थित पुरुषमें ‘वही मैं हूँ’ इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञासे सुषुप्तिमें जैसे भेदवत् विशेषज्ञानका

भाष्य

प्रसिद्धाः—जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति । चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः, न तु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धाऽस्ति तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति । न ह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते । स्यादेतत्—इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान् विषयानीक्षत एवं मुग्धो मूसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान् विषयानीक्षत

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—कहता है—शरीरमें रहनेवाले जीवकी तीन अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं—जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति । चौथी अवस्था है शरीरसे उत्क्रान्ति । जीवकी इससे अतिरिक्त कोई पांचवीं अवस्था श्रुति या स्मृतिमें प्रसिद्ध नहीं है । इससे मूर्च्छा चार अवस्थाओंके अन्तर्गत ही एक अवस्था है ।

सिद्धान्ती—हम कहते हैं—मुग्ध जागरित अवस्थावाला हो, यह संभव नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियोंसे विषयोंका ईक्षण नहीं करता । यहाँपर शंका होती है कि मुग्ध इषुकार (बाण बनानेवाले) के न्यायसे होगा । जैसे बाण बनानेवाला यद्यपि जागता रहता है, तो भी बाणमें मनके आसक्त होनेसे अन्य विषयोंको नहीं देखता, वैसे ही मूसलप्रहार आदिसे उत्पन्न हुए दुःखानुभवसे मनके व्यग्र होनेके कारण जागता हुआ भी वह (मुग्ध) अन्य विषयोंको नहीं देखता है ।

रत्नप्रभा

मूर्च्छेति दृष्टान्तसङ्गत्या पूर्वपक्षमाह—तिस्रस्तावदिति । पूर्वपक्षे प्रसिद्धावस्थातः पृथगात्मनो मूर्च्छातो विवेकार्थं यत्नासिद्धिः फलं, सिद्धान्ते पृथग्यत्नध्रौव्यमिति भेदः । परिशेषं दर्शयन् सिद्धान्तयति—न तावदित्यादिना । जाग्रदपि—जागरावस्थोऽपीत्यर्थः । ऐन्द्रियकमर्थज्ञानं देहधारणं च तस्यास्ति, च मुग्धस्येति

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभाव है, वैसे मूर्च्छामें भी भेदवत् विशेषज्ञानका अभाव है इस समान लिंगसे मूर्च्छा सुषुप्ति ही है, इस प्रकारके प्रत्यभिज्ञानसे—मूर्च्छा सुषुप्तिके अन्तर्गत है, इस दृष्टान्तसंगतिसे पूर्वपक्ष कहते हैं—“तिस्रस्तावत्” इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें प्रसिद्ध अवस्थाओंसे पृथक् आत्माका मूर्च्छासे विवेक करनेके लिए यत्नकी असिद्धि फल है, सिद्धान्तमें पृथक् यत्न निश्चित है, इस प्रकार दोनोंमें भेद है । परिशेष दिखलाते हुए सिद्धान्त कहते हैं—“न तावत्” इत्यादिसे । जाग्रत् भी—

भाष्य

इति । न अचेतयमानत्वात् । इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति—इषुमेवाहमेता-
वन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति । मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीति—अन्धे तमस्यह-
मेतावन्तं कालं प्रक्षिप्तोऽभूवं न किञ्चिन्मया चेतितमिति । जाग्रतश्चैक-
विषयविषक्तचेतसोऽपि देहो विधियते, मुग्धस्य तु देहो धरण्यां पतति ।
तस्मान्न जागर्ति, नापि स्वप्नान् पश्यति, निःसंज्ञकत्वात् । नापि मृतः,
प्राणोष्मणोर्भावात् । मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽयं स्यान्न वा मृत इति संशयाना
ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते निश्चयार्थम्, प्राणोऽस्ति नास्तीति च
नासिकादेशम् । यदि प्राणोष्मणोरस्तित्वं नावगच्छन्ति ततो मृतोऽयमित्य-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा नहीं होता है, कारण कि मुग्धमें चेतना नहीं रहती है अर्थात् उतने कालतक
उसे किसीका भान नहीं होता । बाण बनानेवाला बाणमें आसक्तचित्त होनेसे
कहता है कि मैं इतने समयतक बाणकी ही उपलब्धि करता था । मुग्ध तो
चेतना प्राप्तकर कहता है कि मैं इतने समयतक अन्धकारमें प्रक्षिप्त हुआ था, मैंने
कुछ भी नहीं जाना । एक विषयमें आसक्तचित्तवाले जाग्रत् पुरुषका देह सड़ा रहता
है, परन्तु मुग्धका देह पृथिवीपर गिर जाता है । इसलिए मुग्ध जीव जागता नहीं
है । स्वप्न भी नहीं देखता, क्योंकि वह बेहोश रहता है । और मरा हुआ भी नहीं
है, क्योंकि इसमें प्राण और गर्मी रहती है । मुग्ध जन्तुके विषयमें यह मर गया है
या नहीं मरा, ऐसा संशय करते हुए पुरुष इसमें गर्मी है या नहीं, यह निश्चय
करनेके लिए हृदयका स्पर्श करते हैं और प्राण है या नहीं यह निश्चय करनेके
लिए उसकी नासिकाके अग्रभागका स्पर्श करते हैं । यदि प्राण और गर्मी नहीं
पाते, तो यह मर गया है, ऐसा निश्चय करके उसे जलानेके लिए जंगलमें ले

रत्नप्रभा

वैषम्योक्त्या दूषयति—नेत्यादिना । मूर्च्छाया जागराद् भेदमुक्त्वा स्वप्नमृतिभ्यां
भेदमाह—नापीत्यादिना । आलभन्ते—स्पृशन्ति । दिष्टम्—मरणम् । सुषुप्तिमू-
र्च्छयोः किञ्चित् सारूप्येऽपि बहुवैलक्षण्याद् भेद इत्याह —नेति । लक्षणभेदमुक्त्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

जागरणावस्था युक्त भी, यह अर्थ है । इन्द्रियोंसे होनवाला अर्थज्ञान और देहधारण
उसमें—बाण बनानेवालेमें है, मुग्धमें नहीं है, इस प्रकार वैषम्यके कथनसे शंकाको दूषित
करते हैं—“न” इत्यादिसे । मूर्च्छाका जागरणसे भेद कहकर स्वप्न और मरणसे भेद कहते हैं—
“नापि” इत्यादिसे । आलभन्ते—स्पर्श करते हैं । दिष्ट—मरण । सुषुप्ति और मूर्च्छा इन दोनोंमें कुछ

भाष्य

ध्यवसाय दहनायारण्यं नयन्ति । अथ तु प्राणमूष्माणं वा प्रतिपद्यन्ते, ततो नायं मृत इत्यध्यवसाय संज्ञालाभाय भिषज्यन्ति । पुनरुत्थानाच्च न दिष्टं गतः, नहि यमं गतः यमराष्ट्रात् प्रत्यागच्छति । अस्तु तर्हि सुषुप्तः, निःसंज्ञ-त्वादमृतत्वाच्च । न, वैलक्षण्यात् । मुग्धः कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो भवति, भयानकं च वदनम्, विस्फारिते नेत्रे । सुषुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकालं पुनः पुनरुच्छ्वसिति निमीलिते अस्य नेत्रे भवतः, न चास्य देहो वेपते, पाणिपेष्णमात्रेण च सुषुप्तमुत्थापयन्ति, न तु मुग्धं मुद्गरघातेनापि । निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः । मुसलसंपातादि-

भाष्यका अनुवाद

जाते हैं । और यदि उसमें प्राण और गर्मी पाते हैं, तो यह मरा नहीं है, ऐसा निश्चय करके चेतनाप्राप्तिके लिए उसकी चिकित्सा करते हैं । पुनरुत्थान होनेसे भी मुग्ध मृत नहीं है, क्योंकि यमके राज्यसे कोई छोटकर नहीं आता । तब मुग्धको सुषुप्त मानो, क्योंकि वह बेहोश रहता है और मरा नहीं है । नहीं, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि दोनोंमें विलक्षणता है । कदाचित् मुग्ध चिरकालतक उच्छ्वास नहीं लेता, उसका शरीर कांपता है, मुख भयानक और आँखें विशेष रूपसे विस्फारित रहती हैं । परन्तु सुषुप्त प्रसन्नवदन रहता है, समकालमें बारम्बार उच्छ्वास लेता है, उसकी आँखें बन्द रहती हैं और देह नहीं कांपती । केवल हाथ फेरनेसे ही लोग सुषुप्त पुरुषको उठाते हैं, परन्तु मुग्धको तो मुंगरीके

रत्नप्रभा

निमित्तभेदमाह—निमित्तेति । प्रत्यभिज्ञापि असिद्धेत्याह—न चेति । उक्तसारूप्यवै-
रूप्याभ्यामर्धसम्पत्तिः सर्वैः सुषुप्तिधर्मैरसम्पन्नः मुग्धः सुषुप्तो न भवति, सर्वैर्मरणा-
वस्थाधर्मैरसम्पत्तेर्मृतोऽपि न, किन्तु अवस्थान्तरम् गत इति सूत्रार्थः । अत्र सूत्रे

रत्नप्रभाका अनुवाद

सादृश्य होनेपर भी अधिक विलक्षणता होनेसे भेद है, ऐसा कहते हैं—“न” इत्यादिसे । सुषुप्ति और मूर्च्छा इन दोनोंके लक्षणमें भेद कहकर दोनोंके निमित्तमें भेद कहते हैं—“निमित्त” इत्यादिसे । प्रत्यभिज्ञा भी असिद्ध है, ऐसा कहते हैं—“न च” इत्यादिसे । उक्त सारूप्य और वैरूप्यसे अर्ध-सम्पत्ति है, सुषुप्तिके सब धर्मोंसे असम्पन्न होनेसे वह (मुग्ध) सुषुप्त नहीं है, उसी प्रकार मरण अवस्थाके सब धर्मोंसे असम्पन्न होनेसे मुग्ध मृत भी नहीं है, किन्तु एक दूसरी अवस्थामें

भाष्य

निमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य । न च लोकेऽस्ति प्रसिद्धिः
 मुग्धः सुप्त इति । परिशेषादर्थसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छामः । निःसंज्ञत्वात् संप-
 न्न इतरस्माच्च व्रैलक्षण्यादसंपन्न इति । कथं पुनरर्थसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते
 वक्तुम्, यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—‘सता सोम्य तदा संपन्नो
 भवति’ (छा० ६।८।१) इति, ‘अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति’ (बृ० ४।३।२२) ‘नैतं
 सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्’ (छा०
 ८।४।१) इत्यादि । जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्य-
 योत्पादनेन भवति । न च सुखित्वप्रत्ययो दुःखितत्वप्रत्ययो वा
 सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते । तस्मादुपाध्यु-

भाष्यका अनुवाद

आघातसे भी नहीं बठा सकते । और दूसरी बात यह भी है कि मोह और
 स्वापका निमित्त मित्र है, क्योंकि मुसलसंपात आवि मोहका निमित्त है और
 श्रम आवि स्वापका निमित्त है । मुग्ध पुरुष सुप्त है, ऐसी लोकमें प्रसिद्धि नहीं
 है । परिशेषसे मुग्धता अर्थसम्पत्ति है, ऐसा हम समझते हैं । चेतनाके न रहनेसे
 वह सम्पन्न है और अन्य सुप्तसे विलक्षणता होनेसे असम्पन्न है । परन्तु मुग्धता
 अर्थसम्पत्ति है, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? क्योंकि सुप्तके प्रति श्रुतिने कहा
 है—‘सता सोम्य तदा सम्पन्नो’ (हे सोम्य ! तब वह ब्रह्मके साथ सम्पन्न
 होता है), ‘अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति’ (यहां चोर अचोर हो जाता है), ‘नैतं
 सेतुमहोरात्रे’ (इस सेतुरूप आत्माका परिच्छेद दिन और रात नहीं करते,
 अत एव जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत या दुष्कृत प्राप्त नहीं होते) इत्यादि । जीवमें

रत्नप्रभा

जीवस्य ब्रह्मणाऽर्थसम्पत्तिरुक्तेति भ्रान्तः शङ्कते—कथमिति । यत्सुषुप्तं प्रति सत्सम्प-
 त्तत्वं श्रुतं तदुपाध्यभावाभिप्रायम् । उपाध्यभावश्च मुग्धस्यापि सम इति, तस्मात्
 कृत्स्नसम्पत्तिरेवेत्यर्थः । सुषुप्तकाले कर्मासम्बन्धे पुनरुत्थानं कथम् ? इत्याशङ्क्य

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्राप्त है, ऐसा सूत्रार्थ है । परन्तु इस सूत्रमें जीवकी ब्रह्मके साथ अर्थसम्पत्ति कही गई है,
 इस प्रकार भ्रान्त शंका करता है—“कथम्” इत्यादिसे । श्रुतिमें सुषुप्तिमें जीवकी जो ब्रह्म सम्पत्ति
 कही गई है, उसका अभिप्राय—उपाधिके अभावमें है, और उपाधिका अभाव मुग्धावस्थामें
 भी समान है, इससे अर्थसम्पत्ति नहीं है, किन्तु सम्पूर्णसम्पत्ति ही है, यह अर्थ है ।
 सुषुप्त कालमें कर्मका संबन्ध नहीं रहता, ऐसी स्थितिमें पुनरुत्थान किस प्रकार हो सकता है ?

भाष्य

पक्षमात् सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धसम्पत्तिरिति । अत्रोच्यते—न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति । किं तर्धर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः । दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये । द्वारं चैतन्मरणस्य । यदाऽस्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः, यदा तु निरवशेषं कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः, तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति । यत्तूक्तम्—न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धाऽस्ति—इति । नैष दोषः । कादाचित्कीयम-

भाष्यका अनुवाद

सुखित्व और दुःखित्वप्रतीतिकी उपपत्ति होनेसे सुकृत और दुष्कृतकी प्राप्ति होती है । और सुखित्व या दुःखित्वकी प्रतीति सुषुप्त पुरुषको नहीं है और मुग्धको भी नहीं है । इसलिए सुषुप्तके समान मुग्धमें भी उपाधिकी उपशान्तिसे सम्पूर्ण सम्पत्ति ही होनी चाहिए, आधी नहीं । इसपर कहते हैं—मुग्धावस्थामें जीवकी ब्रह्मके साथ अर्धसम्पत्ति होती है, ऐसा हम नहीं कहते । तब क्या कहते हैं ? मुग्धत्व आधा सुषुप्त पक्षमें और आधा अन्य अवस्थाके पक्षमें होता है—ऐसा हम कहते हैं । और स्वापसे मोहका साम्य और वैषम्य दिखलाया गया है । यह मरणका द्वार है । जब जीवका कर्म सावशेष रहता है तब वाणी और मन लौट आते हैं और जब कर्म निरवशेष हो जाता है तब प्राण और गर्मी चली जाती है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता मुग्धताको अर्धसम्पत्ति मानते हैं । और

रत्नप्रभा

तत्कार्याभावात् असम्बन्धोक्तिरित्याह—जीवे हीति । ब्रह्मणा कृत्स्नसम्पत्तिमङ्गीकृत्य परिहरति—न ब्रूम इति । मुग्धत्वं हि सुषुप्तस्य अर्धेन निःसंज्ञत्वादिधर्मेण साम्येन सम्पन्नं भवति, मरणस्यार्धेन कम्पादिना सम्पन्नमित्यर्धसम्पत्तिरित्यर्थः । इतोऽस्ति सुषुप्तिवैषम्यमित्याह—द्वारञ्चेति । अप्रसिद्धिमङ्गीकृत्योक्तम्, प्रसिद्धिरप्यस्तीत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ऐसी आशंका करके—उसके कार्योंके अभावसे उसके असम्बन्धका कथन है, ऐसा कहते हैं—“जीवे हि” इत्यादिसे । ब्रह्मके साथ जीवकी सम्पूर्ण सम्पत्तिका अंगीकार कर परिहार करते हैं—“न ब्रूमः” इत्यादिसे । निःसंज्ञत्व आदि सुषुप्तके अर्ध धर्मोंके साथ साम्य होनेसे सुषुप्तके अर्ध धर्मोंके साथ मुग्धत्व सम्पन्न होता है और अर्ध कम्प आदि धर्मोंके साम्यसे मरणके धर्मोंके साथ सम्पन्न होता है, इस प्रकार अर्ध-सम्पत्ति है, ऐसा अर्थ है । और इससे भी मुग्धत्व सुषुप्तिसे विषम-भिन्न है, ऐसा कहते हैं—“द्वारं च” इत्यादिसे । अप्रसिद्धिका

भाष्य

वस्थेति न प्रसिद्धा स्यात् प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः । अर्धसम्पत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

भाष्यका अनुवाद

पाँचवी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, वह दोष नहीं है, क्योंकि यह अवस्था कादाचित्क होनेसे प्रसिद्ध भले ही न हो, परन्तु लोक और आयुर्वेद में यह प्रसिद्ध है और अर्धसम्पत्तिका स्वीकार किया गया है, इसलिए पाँचवी अवस्था गिनी नहीं जाता । इस प्रकार कोई दोष नहीं है ॥ १० ॥

रत्नप्रभा

प्रसिद्धा चेति । आयुर्वेदः—वैद्यशास्त्रम् । प्रसिद्धौ कथं विवादः ? इत्याशङ्क्य पञ्चमत्वेनाऽप्रसिद्धेरित्याह—अर्धेति । सुषुप्तिमृतिधर्माधसम्पत्त्या तदन्तर्भावबुद्धिलोका-नामित्यर्थः ॥ १० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अङ्गीकार करके यह कहा गया है, अब प्रसिद्धि भी है, ऐसा कहते हैं—“प्रसिद्धा च” इत्यादिसे । आयुर्वेद—वैद्यशास्त्र । प्रसिद्धिमें विवाद किस प्रकार हो सकता है ? [जब सुग्धावस्था लोकमें प्रसिद्ध है, तो उसमें विवाद ही कैसा ?] ऐसी आशंका करके पाँचवी अवस्थारूपसे अप्रसिद्ध होनेसे [विवाद है] ऐसा कहते हैं—“अर्ध” इत्यादिसे । सुषुप्ति और मरणके धर्मोंके साथ मूर्च्छाकी अर्धसम्पत्ति होनेसे उनमें मूर्च्छाका अन्तर्भाव है, ऐसी लोगोंकी बुद्धि है, ऐसा अर्थ है ॥ १० ॥



[५ उभयलिङ्गाधिकरण सू० ११-२१]

ब्रह्म किं रूपि वाऽरूपि भवेन्निरूपमेव वा ।

द्विविधश्रुतिसङ्गात्वाद् ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥ १ ॥

निरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः ।

रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते* ॥ २ ॥

[अधिकरणसार]

सन्वेदः—कथा परब्रह्म परमात्मा रूपवान् और रूपरहित—उभयात्मक है या अरूपवान् ही है ?

पूर्वपक्ष—दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका सङ्गाव होनेसे रूपवान् और रूपरहित है ।

सिद्धान्त—वेदान्तोंसे निरूप ही ब्रह्म प्रतिपादित है, क्योंकि वही अपूर्व—मानान्तरागम्य है, उभयात्मकत्वमें विरोध भी होगा, और कहींपर रूपवत्ताका जो श्रवण है वह तात्पर्य वृत्त्या नहीं है, परन्तु अनुवादसे है, अतः ब्रह्ममें रूपवत्त्वका भ्रम ही है अर्थात् ब्रह्म रूपवत् नहीं है ।

* तात्पर्य यह है—‘तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म’ इत्यादि अनेक श्रुतियाँ यत्र तत्र उपासना काण्डमें सविशेष—सशरीर ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं, एवम् ‘अस्थूलमनणु’ इत्यादि निर्विशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं, अतः परस्पर विरुद्ध श्रुतिवाक्योंसे पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि ब्रह्म उभयात्मक है ।

उक्त पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्ती कहते हैं—वेदान्तशास्त्रसे निरूप ही ब्रह्म प्रतिपादयिषित है, क्योंकि वही किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे गम्य नहीं है, जगत्कारणत्वादिरूप विशिष्ट ब्रह्मत्तो‘क्षित्यादिकं सकर्तृकम् कार्यत्वात्’ इत्यादि अनुमानसे ज्ञात हो सकता है, इसीलिए उपासनामें यह रूप अनुवादित है, न कि उसका रूपवत्त्वके प्रतिपादनमें तात्पर्य्य है । अनुमान और शास्त्रसे सिद्ध उभयात्मकता सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि सरूपत्व और निरूपत्व ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं । इससे तात्पर्यका विषय न होनेसे सरूपत्वके भ्रान्त होनेपर वस्तुतः ब्रह्म निरूप ही है ।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

पदच्छेद—न, स्थानतः, अपि, परस्य, उभयलिङ्गम्, सर्वत्र, हि ।

पदार्थोक्ति—परस्य—ब्रह्मणः उभयलिङ्गम्—सविशेषनिर्विशेषरूपोभय-
स्वभावकत्वं न [सम्भवति, सत्यस्य वस्तुनो द्वैरूप्यायोगात्] नापि स्थानतः—
उपाधितः [उक्तोभयरूपत्वम् सत्यम्, अग्निसम्बन्धमात्रेण जलस्योष्णस्य तत्त्वभाव-
त्वाददर्शनात्, अतो ब्रह्मण एकरूपत्वमेव वाच्यम्] हि—यतः सर्वत्र—सर्वेषु वेदान्त-
वाक्येषु ‘अशब्दमस्पर्शमरूपम्’ इत्यादिब्रह्मपरेषु [सविशेषत्वनिरसनेन निर्विशेष-
मेवैकरूपं ब्रह्मतत्त्वमुपदिश्यते इत्यर्थः] ।

भाषार्थ—परब्रह्म परमात्मानं निर्विशेष और सविशेषरूप दो स्वभाव नहीं हो
सकते हैं, क्योंकि जो सत्य वस्तु है, उसमें विरुद्ध दो धर्म नहीं रह सकते, यदि
कदाचित् उपाधिके योगसे दो स्वभाव कहो, तो वे सत्य नहीं माने जा सकते,
कारण कि अग्निसम्बन्धमात्रसे उष्ण जलमें अग्निका स्वभाव नहीं
माना जा सकता है, इसलिए ‘अशब्दम्’ इत्यादि ब्रह्मपरक जो अनेक वेदान्त
वाक्य हैं, उनमें निर्विशेष एकरूप ही ब्रह्म उपदिष्ट है ।

भाष्य

येन ब्रह्मणा मुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात् संपद्यते, तस्येदानीं स्व-

भाष्यका अनुवाद

मुषुप्ति आदिमें उपाधिका उपशम होनेसे जीव जिस ब्रह्मके साथ सम्पन्न

रत्नप्रभा

सर्वाभिः अवस्थाभिः अलिप्तः त्वमर्थः, इति विचार्य आपादसमाप्तेः तत्पदार्थं
निरूपितुकामः प्रथमं तस्य निर्विशेषत्वमाह—न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र
हि । उद्देश्य—त्वंपदार्थजिज्ञासोपरमानन्तरं तत्स्वरूपब्रह्मविचारस्याऽवसरसंगति-
माह—येनेति । सविशेषत्वं निर्विशेषत्वं चेत्युभयं लिङ्गयते—ज्ञाप्यते याभिः ता उभय-

रत्नप्रभाका अनुवाद

‘तत्त्वमसि’ इस वाक्यमें त्वम्पदार्थ—जीव सब अवस्थाओंसे अलिप्त है, ऐसा विचार
करके पादकी समाप्ति तक तत्पदार्थ—ब्रह्मके निरूपण करनेकी इच्छासे सूत्रकार प्रथम उसका
निर्विशेष स्वरूप कहते हैं—“न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिङ्गं सर्वत्र हि” । उद्देश्य त्वम्पदार्थकी
जिज्ञासाके शान्त होनेके अनन्तर उसके स्वरूपभूत ब्रह्मके विचारकी अवसरसंगति कहते
हैं—“येन” इत्यादिसे । निर्विशेषत्व और सविशेषत्व ये दोनों जिनसे समझे जायें, ऐसी

भाष्य

रूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते । सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—‘सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः’ (छा० ३।१४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः, ‘अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्’ (बृ० ३।८।८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः । किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम् ? यदाप्यन्यतरलिङ्गं तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते । तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते । नष्टेकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधा-

भाष्यका अनुवाद

होता है, उसके स्वरूपका श्रुतिसामर्थ्यसे निर्धारण किया जाता है । ब्रह्मविषयक श्रुतियाँ दो लिंगवाली हैं । ‘सर्वकर्मा सर्वकामः०’ (सब विश्व जिसका कर्म है, सब दोषोंसे रहित जिसका काम है, सर्वसुखकर जिसका गन्ध है और सर्वसुखकर जिसका रस है) इत्यादि श्रुतियाँ सविशेष लिंगवाली हैं । ‘अस्थूलमनणु०’ (वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है और दीर्घ नहीं है) इत्यादि श्रुतियाँ निर्विशेष लिंगवाली हैं । इन श्रुतियोंमें दोनों लिंगवाला ब्रह्म समझना चाहिए या दोनोंमें एक लिंगवाला ? यदि अन्यतर लिंगवाला समझा जाय, तो वह सविशेष है या निर्विशेष ? ऐसा विचार किया जाता है ।

पूर्वपक्षी—दोनों लिंगवाली श्रुतियोंके अनुग्रहसे दोनों लिंगवाला ही ब्रह्म समझना चाहिए ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—परब्रह्मके स्वतः ही दो लिंग उपपन्न नहीं होते, क्योंकि एक ही वस्तु स्वभावतः रूपादिविशेषसे युक्त हो और

रत्नप्रभा

लिङ्गाः श्रुतयः संशयबीजत्वेन सन्तीत्यर्थः । यथा विरुद्धसुषुप्तिमरणोभयरूपत्वं मुग्धत्वम्, तथा श्रुतिप्रामाण्यादुभयरूपं ब्रह्म ध्येयमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षः । निर्विशेषमेकरूपमेव ज्ञेयमिति सिद्धान्तयति—एवमिति । किमुभयरूपत्वं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उभयलिङ्ग श्रुतियाँ संशयके बीजरूपसे वर्तमान हैं । जैसे सुषुप्ति और मरण जो विरुद्ध हैं, उन दोनोंके स्वरूपवाला मुग्धत्व है, वैसे श्रुतिप्रामाण्यसे दोनों रूपवाला ब्रह्म ध्येय है, ऐसा दृष्टान्तसे पूर्वपक्ष है । निर्विशेष एकरूपवाला ही ब्रह्म ज्ञेय है, ऐसा सिद्धान्त करते हैं—“एवम्” इत्यादिसे । क्या उभयरूपत्व—ब्रह्मका दोनों रूप होना—स्वतः है या स्वतः

भाष्य

रयितुं शक्यं विरोधात् । अस्तु तर्हि स्थानतः—पृथिव्याद्युपाधियोगादिति । तदपि नोपपद्यते । नहुपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति । नहि स्वच्छः सन् स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् । अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्, न तद्विपरीतम् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दम-

भाष्यका अनुवाद

रूपादिविशेष रहित हो, इस प्रकार विरोध होनेके कारण अवधारण नहीं किया जा सकता । यदि कहो कि स्थानसे अर्थात् पृथिवी आदि उपाधिके योगसे ऐसा होगा, सो भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि उपाधियोगसे भी अन्य प्रकारकी वस्तुका स्वभाव दूसरे प्रकारका स्वभाव नहीं हो सकता । स्वभावतः स्वच्छ स्फटिक अलक्तक (लाख) आदि उपाधिके योगसे अस्वच्छ नहीं हो जाता, अस्वच्छताका अभिनिवेश स्फटिकमें भ्रममात्र है । और उपाधियाँ अविद्यासे उपस्थापित होती हैं, इसलिए अन्यतर लिंगका परिग्रह करें, तो भी समस्त विशेषसे रहित निर्विकल्पक ही ब्रह्म समझना चाहिए । उससे विपरीत नहीं समझना चाहिए । क्योंकि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादक 'अशब्दमस्पर्शमरूपम्

रत्नप्रभा

स्वतः—उत स्वतो निर्गुणस्य सर्वगन्धत्वादिविशेषः उपाधितः सत्यः, आहोस्वित् स्वतः सविशेषमेव ब्रह्मेति । तत्र आद्यं निरस्य द्वितीयम् अनुद्य दूषयति—अस्तु तर्हीति । स्थानम्—उपाधिः । ब्रह्मणि विशेषः कल्पितः, औपाधिकत्वात्, स्फटिकलौहित्यवत्, इत्यर्थः । उपाधेः सत्यत्वेऽपि तत्कृतं मिथ्येति दृष्टम्, ब्रह्मणि तूपाधीनां मिथ्यात्वात् तत्कृतो विशेषो मिथ्येति किमु वाच्यमित्याह—उपाधीनामिति । तृतीयं

रत्नप्रभाका अनुवाद

जो निर्गुण ब्रह्म है उसका सर्वगन्धत्व आदि विशेष उपाधिसे सत्य है या स्वतः ही सविशेष ब्रह्म है ? उसमें प्रथम पक्षका निरसन करके द्वितीय पक्षका अनुवादकर उसे दूषित करते हैं—“अस्तु तर्हि” इत्यादिसे । स्थान—उपाधि । ब्रह्ममें विशेष कल्पित है, औपाधिक होनेसे, स्फटिककी रक्तताके समान, ऐसा अर्थ है । उपाधिके सत्य होनेपर भी उससे किया गया मिथ्या होता है, ऐसा देखा गया है, परन्तु ब्रह्ममें तो उपाधियोंके मिथ्या होनेसे तत्कृत विशेष भी मिथ्या है, इसमें कहना ही क्या है ? ऐसा कहते हैं—“उपाधीनाम्” इत्यादिसे ।

भाष्य

स्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० १।३।१५, युक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्त-
समस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

भाष्यका अनुवाद

व्ययम्' (शब्दरहित, स्पर्शरहित, और रूपरहित, अव्यय—नित्य) इत्यादि
वाक्योंमें सर्वत्र समस्तविशेषशून्य ब्रह्म ही उपदिष्ट है ॥ ११ ॥

रत्नप्रभा

निरस्यति—अतश्चेति । सर्वस्य विशेषस्य कल्पितत्वादेवेत्यर्थः । निषेधश्रुतेश्चैव-
मित्याह—सर्वत्रहीति ॥ ११ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तृतीयका निरास करते हैं—“अतश्च” इत्यादिसे । सब विशेषोंके कल्पित होनेसे ही, ऐसा
अर्थ है । निषेधश्रुतिसे भी ऐसा ही है, ऐसा कहते हैं—“सर्वत्र हि” इत्यादिसे ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

पदच्छेद—न, भेदात्, इति, चेत्, न, प्रत्येकम्, अतद्वचनात् ।

पदार्थोक्ति—[ननु सर्वत्र वेदान्तेषु निर्विशेषमेव ब्रह्म उपदिश्यते, इति
युक्तम्] न [कुतः ?] भेदात्—प्रतिविधं परस्य चतुष्पादाद्याकारभेदेन भेदात्
[सविशेषमपि श्रुतिबलादङ्गीकर्तव्यम् ?] इति चेन्न, प्रत्येकम्—प्रत्युपाधि,
अतद्वचनात्—‘यश्चायमस्याम्’ इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मणः सर्वत्रोपाधौ अभेदस्य
श्रवणात् ।

भाषार्थ—यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि सभी वेदान्तोंमें निर्विशेष ही ब्रह्म
कहा है, यह बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक विद्यामें चतुष्पाद् आदि आकारके भेदसे
उसका भेद है । तो वह युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उपाधिमें ‘यश्चाय-
मस्यां पृथिव्याम्’ इत्यादि श्रुतिमें जलादिरूप सभी उपाधियोंमें अभेदका श्रवण है ।

भाष्य

अथापि स्याद्यदुक्तं निर्विकल्पमेव ब्रह्म नास्य स्वतः स्थानतो बोभय-
लिङ्गत्वमिति । तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? भेदात् । भिन्ना हि प्रतिविद्यं
ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते । चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकलं ब्रह्म वामनीत्वाद-
लक्षणं ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदितं ब्रह्मेत्येवंजातीयकाः, तस्मात् सवि-
शेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम् । ननूक्तं नोभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणः संभव-
तीति । अयमप्यविरोधः । उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य । अन्यथा हि
निर्विषयमेव भेदशास्त्रं प्रसज्येतेति चेत् । नेति ब्रूमः । कस्मात् ? प्रत्येक-
मतद्वचनात् । प्रत्युपाधिभेदं ह्यभेदमेव ब्रह्मणः श्रावयति शास्त्रम्—‘यश्चाय-

भाष्यका अनुवाद

भले ही ऐसा हो, परन्तु ब्रह्म निर्विकल्पक एक लिंग ही है, और स्वतः
या उपाधिसे उभयलिंग नहीं है, ऐसा जो कहा गया है, वह उपपन्न नहीं होता ।
किससे ? भेदसे, क्योंकि प्रत्येक विद्यामें ब्रह्मके आकार भिन्न २ हैं, ऐसा
उपदिष्ट है । ‘चतुष्पाद् ब्रह्म’ (ब्रह्मके चार पाद हैं), ‘षोडशकलं ब्रह्म’ (ब्रह्मकी
सोलह कलाएँ हैं), ‘वामनीत्वादिलक्षणं ब्रह्म’ (ब्रह्म वामनीत्व आदि लक्षणवाला
है), ‘त्रैलोक्यशरीरं’ (त्रैलोक्य जिसका शरीर है, ऐसा ब्रह्म है, और यह
वैश्वानरशब्दसे कहा जाता है) इस प्रकारके ब्रह्मके आकार उपदिष्ट हैं, इसलिए
ब्रह्म सविशेष है, ऐसा भा स्वीकार करना युक्त है । परन्तु ऐसा जो कहा गया
है कि ब्रह्म उभयलिंगवाला है, यह नहीं हो सकता ? यह भी विरोध नहीं है,
क्योंकि आकारभेद उपाधिकृत है, अन्यथा भेदशास्त्र निर्विषय हो जायगा, यदि ऐसा
[पूर्वपक्षी] कहे, तो वह युक्त नहीं है, ऐसा हम कहते हैं । किससे ?
प्रत्येकमें ‘ऐसा नहीं’ ऐसा वचन होनेसे । प्रत्येक उपाधिभेदमें ‘यश्चायमस्यां

रत्नप्रभा

न भेदादिति । भिद्यत इति भेदः—विशेषः । निर्विशेषश्रुतावपि विशेष-
स्यापि श्रुतेः उभयरूपत्वं स्याद् इति शङ्कां व्याचष्टे—अथापि स्यादिति । पूर्वोक्तं
विरोधं स्मारयति—ननूक्तमिति । भेदश्रुतिप्रामाण्यार्थमौपाधिकरूपभेदस्वीकाराद-

रत्नप्रभाका अनुवाद

“न भेदात्” इत्यादि । भेद—विशेष । निर्विशेष श्रुतिके रहनेपर भी विशेषकी भी
श्रुति होनेसे ब्रह्म उभयरूपवाला हो, इस प्रकार शंकाका व्याख्यान करते हैं—“अथापि स्यात्”
इत्यादिसे । पूर्वोक्त विरोधका स्मरण करते हैं—“ननूक्तम्” इत्यादिसे । भेदश्रुतिके—
ब्रह्मका सविशेषरूप दिखलानेवाली श्रुतिके प्रामाण्यके लिए औपाधिकरूप भेदको स्वीकार करनेसे

भाष्य

मस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शरीरस्तेजो-
मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २।५।१) इत्यादि ।
अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मणः शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम् । भेदस्यो-
पासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

भाष्यका अनुवाद

पृथिव्यां०' (और इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष है,
और शरीरमें जो यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, वह यही है, जो कि
यह आत्मा है) इत्यादिशास्त्र ब्रह्मके अभेदका ही श्रवण कराते हैं;
इसलिए ब्रह्मका भिन्न आकारके साथ योग शास्त्रीय है, ऐसा कहना शक्य नहीं
है, क्योंकि भेद उपासनाके लिए है, इसलिए अभेदमें तात्पर्य है ॥ १२ ॥

रत्नप्रभा

विरोधं इति समाध्यर्थः । किमुपाधिगत एव रूपभेदो ब्रह्मण्युपचर्यते ध्यानार्थम्
उत उपाधियोगात् सत्यविरुद्धरूपवत्तया ब्रह्मणो भेदो भवतीति । आद्येऽस्मदिष्ट-
सिद्धिः । द्वितीयम् अभेदश्रुत्या दूषयति—नेति ब्रूम इति ॥ १२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

कोई विरोध नहीं है, ऐसा समाधानका अर्थ है । क्या उपाधिमें स्थित ही रूपभेद ब्रह्ममें
ध्यानके लिए उपचरित होता है या उपाधिके योगसे जो ब्रह्मका सत्य विरुद्धरूप है,
उससे यह भेद होता है ? प्रथम पक्षमें हमारे अभीष्टकी सिद्धि है । द्वितीय पक्षको अभेद
श्रुतिसे दूषित करते हैं—“नेति ब्रूमः” इत्यादिसे ॥ १२ ॥

अपिचैवमेके ॥ १३ ॥

पदच्छेद—अपि, च, एवम्, एके ।

पदार्थोक्ति—अपि च—एके शास्त्रिनः ‘मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति’
‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्येवंरूपेण श्रुतिवाक्येन भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेव परस्य
ब्रह्मणः समामनन्ति, इति सूत्रार्थः ।

भाषार्थ—और कोई शाखाध्यायी लोग ‘मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति’
‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्यादि श्रुतिवाक्यसे भेदकी निन्दा करके परमात्माके
अभेदका ही प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्य

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समा-
मनन्ति—

‘मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति’ ॥ (क० ४।११) इति ।
तथाऽन्येऽपि ‘भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मे
तत्’—(श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य
ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु
सतीष्वनाकारमेव ब्रह्माऽवधार्यते न पुनर्विपरीतमिति । अत उत्तरं पठति—

भाष्यका अनुवाद

और भेददर्शनकी निन्दा करके अभेददर्शनका ही एक शाखावाले श्रवण
कराते हैं—‘मनसैवेदमाप्तव्यं नेह०’ (मनसे ही ब्रह्मको प्राप्त करना चाहिए,
ब्रह्मके सिवाय यहां कुछ नहीं है, जो यहां भेद-सा देखते हैं, वे मृत्युपरम्पराको
प्राप्त होते हैं) । उसी प्रकार अन्य शाखावाले भी ‘भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च०’
(भोक्ता—जीव, भोग्य—अन्य सब और प्रेरिता—अन्तर्यामी परमेश्वरका
विचार कर जो कुछ मैंने कहा है, वह सब त्रिविध ब्रह्म ही है) इस प्रकार
भोग्य, भोक्ता और नियन्ताके स्वरूपमें सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है,
ऐसा कहते हैं ॥ १३ ॥

परन्तु साकार ब्रह्मका उपदेश करनेवाली और निराकार ब्रह्मका उपदेश
करनेवाली श्रुतियोंके रहते निराकार ब्रह्मका अवधारण किस प्रकार किया जाता
है, साकार ब्रह्मका अवधारण क्यों नहीं किया जाता ? ऐसी शंका होनेपर सूत्रकार
उत्तर सूत्र पढ़ते हैं—

रत्नप्रभा

द्वैतनिन्दापूर्वकम् अद्वैतोक्तेः च निर्विशेषं तत्त्वमिति सूत्रार्थमाह—अपि चेति ।
भोक्ता—जीवः, भोग्यम्—शब्दादि, तयोः प्रेरितारम्—ईश्वरम् च मत्वा
विचार्य मे मम प्रोक्तं तत्सर्वं त्रिविधं ब्रह्मैवेति जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

द्वैतकी निन्दाकर अद्वैतका कथन है, अतः ब्रह्मतत्त्व निर्विशेष ही है, इस प्रकार सूत्रका
अर्थ कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । भोक्ता—जीव, भोग्य—शब्द आदि और उन दोनोंके
प्रेरक ईश्वरका विचारकर जो कुछ मैंने कहा है वह सब त्रिविध ब्रह्म ही है, इस प्रकार समझना
चाहिए, ऐसा अर्थ है ॥ १३ ॥

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

पदच्छेद—अरूपवत्, एव, हि, तत्प्रधानत्वात् ।

पदार्थोक्ति—अरूपवत्—न रूपवत् अरूपवत् इति व्युत्पत्त्या रूपहीनं निर्विशेषमेव [ब्रह्म अवधारयितव्यम्, न सविशेषम्, कुतो ह्येवम्?] हि—यतः, तत्प्रधानत्वात्—‘अस्थूलम्’ इत्यादिनिषेधशास्त्रस्य निर्गुणब्रह्मप्रधानत्वादित्यर्थः ।

भाषार्थ—‘अस्थूलम्’ इत्यादि निषेधशास्त्र निर्गुणब्रह्मप्रधान ही हैं, इसलिए ब्रह्मका निर्धारण निर्विशेषरूपसे ही करना चाहिए, सविशेषरूपसे नहीं करना चाहिये, ऐसा इस सूत्रका भाव है ।

भाष्य

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्म अवधारयितव्यं न रूपादिमत् । कस्मात् ? तत्प्रधानत्वात् । ‘अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्’ (बृ० ३।८।८) ‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्’ (कठ० ३।१५ मुक्ति० २।७२) ‘आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म’ (छा० ८।१४।१) ‘दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः’ (मुण्ड० २।१।२), ‘तदेतद् ब्रह्मा-

भाष्यका अनुवाद

रूपादि आकारसे रहित ही ब्रह्म है, ऐसा अवधारण करना चाहिए, ब्रह्म रूपादियुक्त है, ऐसा अवधारण नहीं करना चाहिए । किससे ? इससे कि श्रुति-वाक्योंमें निराकार ब्रह्म ही प्रधानरूपसे वर्णित है—‘अस्थूलमनण्वहस्व०’ (स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है), ‘अशब्दमस्पर्शम०’ (वह शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित और अविनाशी है), ‘आकाशो वै०’ वह (आकाश, नाम और रूपका स्पष्टीकरण करनेवाला है, वे नाम और रूप जिसके भीतर हैं वह ब्रह्म है), ‘दिव्यो ह्यमूर्तः०’ (स्वयंप्रकाश, सर्वमूर्तिवर्जित, बाह्य

रत्नप्रभा

द्विविधश्रुतिषु सतीषु निर्विशेषत्वे किं नियामकमिति शङ्कते—कथं पुनरिति ।

“तत्पराऽतत्परविरोधे तत्परं बलवत्” इति न्यायो नियामक इत्याह—अरूपवदे-

रत्नप्रभाका अनुवाद

जब दोनों प्रकारकी श्रुतियाँ हैं, तो निर्विशेषत्वमें नियामक क्या है, ऐसी शंका करते हैं—“कथं पुनः” इत्यादिसे । ‘तत्परातत्पर०’ (तत्पर और अतत्पर इन दोनों वाक्योंके विरोधमें तत्पर अधिक बलवान् है) यह न्याय नियामक है, ऐसा कहते हैं—“अरूपवदेव” इत्यादिसे ।

भाष्य

पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येव-
मादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्
प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र । तस्मादेवं-
जातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्माऽवधारयितव्यम् । इतराणि
त्वाकारवद्ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि । उपासनाविधि-
प्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम् । सति तु
विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्तीति । एष विनिगमनायां
हेतुः, येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते, न पुनर्वि-
परीतमिति ॥ १४ ॥

का तर्ह्यकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

भाष्यका अनुवाद

और भीतररहित एवंजन्मरहित पुरुष है), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्व०' (वह ब्रह्म कारण तथा
कार्य नहीं है, अन्तर तथा बाह्य नहीं है, यह आत्मा ब्रह्म है, सबका अनुभव करता
है) इत्यादि वाक्योंमें निष्प्रपञ्च ब्रह्मात्मतत्त्व प्रधान है, अन्य अर्थ प्रधान नहीं है,
ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें प्रतिष्ठापन किया गया है । इसलिए इस
प्रकारके वाक्योंमें यथाश्रुत निराकार ब्रह्मका ही अवधारण करना चाहिए । और
अन्य वाक्य जो साकार ब्रह्मविषयक हैं, वे साकारब्रह्मप्रधान नहीं हैं, उपासना-
विधिप्रधान हैं । उनमें विरोध न हो, तो यथाश्रुत (जैसे श्रुतिमें है, वैसे) का
आश्रय करना चाहिए । विरोध हो, तो जिनमें निराकार ब्रह्मप्रधान है, वे वाक्य,
जिनमें वह प्रधान नहीं है, ऐसे वाक्योंकी अपेक्षासे विशेष बलवान् हैं । यही
विनिगमनमें हेतु है । जिससे दोनों प्रकारके श्रुतिवाक्योंके रहते निराकार ब्रह्मका
ही अवधारण होता है, साकारका अवधारण नहीं होता ॥ १४ ॥

तब जो श्रुतिवाक्य साकार ब्रह्मविषयक हैं, उनकी क्या गति होगी ? इसपर
कहते हैं—

रत्नप्रभा

वेति । उपासनापरवाक्येषु आकारे तात्पर्याभावेऽपि देवताविग्रहादिवदाकारसिद्धि-
माशङ्क्य निष्प्रपञ्चपरश्रुतिविरोधात् भैवमित्याह—तेष्वसतीति ॥ १४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यद्यपि जिन वाक्योंका तात्पर्य उपासनामें है, उन वाक्योंका आकारमें तात्पर्य नहीं है, तो भी
देवताके विग्रह आदिके समान आकारकी सिद्धि होगी, इस प्रकार आशंका करके, निष्प्रपञ्च श्रुतिके
साथ विरोध होनेसे ऐसा नहीं होगा, ऐसा कहते हैं—“तेष्वसति” इत्यादिसे ॥ १४ ॥

प्रकाशवच्चवैयर्थ्यम् ॥ १५ ॥

पदच्छेद—प्रकाशवत्, च, अवैयर्थ्यम् ।

पदार्थोक्ति—प्रकाशवत्—यथा सवितृप्रभृतीनां प्रकाशो वक्रवंशाद्युपाधीनु-
पलभ्य वक्र इव ऋजुरिव भवति तद्वत् [ब्रह्म], च—अपि [पृथ्व्यादिभूतोपाधि-
वशात्तत्तादाकारमिव भवति, न वस्तुतः, अत उपासनाकाण्डपठितानां सविशेष-
ब्रह्मप्रतिपादकश्रुतीनां तादृशोपाधिकाकार एव गतिरिति तासाम्] अवैयर्थ्यम्—
नास्ति नैरर्थक्यम् ।

भाषार्थ—सूर्य आदिका प्रकाश बाँस आदि वक्र, ऋजु उपाधिको प्राप्तकर
वक्राकार-सा और ऋजु आकार-सा होता है, इसी प्रकार ब्रह्म भी तत्तत् पृथिवी आदि
उपाधि प्राप्त करके पृथ्व्यादि आकार हो जाता है, अतः उपासनाप्रकरणमें
पठित श्रुतियां उसी सोपाधिक ब्रह्मको विषय करती हैं, इसलिए वे श्रुतियां
व्यर्थ नहीं हैं ।

भाष्य

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्याप्याऽवतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधि-
संबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भाविमिव प्रतिपद्यते, एवं
ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसंबन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण
आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते । एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्म-

भाष्यका अनुवाद

जैसे आकाशको ध्याप्त करके रहनेवाला सूर्य या चन्द्रमाका प्रकाश अङ्गुलि
आदि उपाधिके सम्बन्धसे अङ्गुलि आदिके सीधे या टेढ़े होनेपर टेढ़ा या
सीधा-सा प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधिके सम्बन्धसे
उनके आकारको प्राप्त हुआ-सा प्रतीत होता है । उनके आधारपर ब्रह्मके
आकारविशेषका उपदेश जो उपासनाके लिए है, वह विरुद्ध नहीं होता ।
इस प्रकार आकारवद्ब्रह्मविषयक वाक्य भी सफल होंगे, निष्प्रयोजन नहीं होंगे,

रत्नप्रभा

कल्पितद्वैते सावकाशत्वात् च सप्रपञ्चत्वश्रुतयो दुर्बल इत्याह—प्रकाशवच्चेति ।
ननु आकारवाक्यानाम् उपाधिकल्पितसर्वगन्धत्वादिना अर्थवत्त्वं किमिति वर्ण्यते, वैयर्थ्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सविशेष ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ कल्पित द्वैतमें सावकाश होनेसे दुर्बल हैं,
ऐसा कहते हैं—“प्रकाशवच्च” इत्यादिसे । परन्तु उपाधिमें कल्पित सर्वगन्धत्व आदिसे

भाष्य

विषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति, नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुं, प्रमाणत्वाविशेषात् । नन्वेवमपि यत्पुरस्तात् प्रतिज्ञातम्—नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति—तद्विरुध्यते, नेति ब्रूमः । उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः । उपाधीनां चाऽविद्या-प्रत्युपस्थापितत्वात् । सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥ १५ ॥

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि वेदवाक्योंमें कोई वाक्य सार्थक है और कोई निरर्थक है, ऐसा समझना युक्त नहीं है, क्योंकि दोनोंमें प्रमाणत्व समान है । परन्तु ऐसा माननेपर पूर्वमें जो यह प्रतिज्ञा की गई है कि उपाधिके योगसे ब्रह्म उभयलिङ्गवाला नहीं है, उसका विरोध होगा । हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि जिसका निमित्त उपाधि है, वह वस्तुधर्म हो, यह युक्त नहीं है, क्योंकि उपाधियां अविद्यासे खड़ी की गई हैं । नैसर्गिक अविद्याके होनेपर ही लौकिक या वैदिक व्यवहारका अवतार होता है—ऐसा हमने जगह-जगहपर कहा है ॥ १५ ॥

रत्नप्रभा

मेवोच्यताम्, तत्राह—नहि वेदवाक्यानामिति । नन्वेवमपीति । उक्तरीत्योभयरूपत्वाङ्गीकारेण श्रुतीनां व्यवस्थितत्वेऽपीत्यर्थः । उपाधीनां कल्पितत्वादौपाधिकस्य सत्यत्वानुपपत्तेर्न सत्यमुभयरूपत्वमिति पूर्वमुक्तम्, सम्प्रति सत्यं विविशेषत्वं मिथ्यासविशेषत्वमित्युच्यत इत्युभयरूपत्वाङ्गीकारेऽपि न पूर्वापरविरोध इत्याह—नेति ब्रूम इति । द्वैतस्य मिथ्यात्वे ज्ञानेन बाधादुपासनादिव्यवहारो न स्यात् इत्याशङ्क्य बाधात् प्रागेव स इत्याह—सत्यमिति ॥ १५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

आकारवाक्य अर्थवान् हैं, ऐसा क्यों कहते हो, ये वाक्य व्यर्थ हैं, ऐसा ही कहो ? उसपर कहते हैं—“नहि वेदवाक्यानाम्” इत्यादिसे । “नन्वेवमपि” इत्यादि । उक्त रीतिसे उभयलिङ्गका स्वीकार करनेसे यद्यपि श्रुतिवाक्य व्यवस्थित होते हैं, तो भी, ऐसा अर्थ है । पहले कहा गया है कि उपाधियोंके कल्पित होनेसे औपाधिकरूपमें सत्यत्वकी अनुपपत्ति है अर्थात् औपाधिकरूप सत्य नहीं है, इसलिए ब्रह्मका उभयरूपत्व असत्य है । अब ऐसा कहते हैं कि निर्विशेषत्व सत्य है, और सविशेषत्व मिथ्या है, इस प्रकार उभयरूपत्वका स्वीकार करनेमें भी पूर्वापर विरोध नहीं है, ऐसा कहते हैं—“नेति ब्रूमः” इत्यादिसे । द्वैतके मिथ्या होनेसे ज्ञानसे उसका बाध होता है, इसलिए उपासना आदिका व्यवहार नहीं होगा, ऐसी आशंका करके बाधके पूर्व ही वह व्यवहार है, ऐसा कहते हैं—“सत्यम्” इत्यादिसे ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

पदच्छेद—आह, च, तन्मात्रम् ।

पदार्थोक्ति—च—अतः [एव, 'स यथा सैन्धवघनः' इत्यादिश्रुतिः] तन्मात्रम्—चैतन्यमात्रं स्वप्रकाशचिदेकरसं निर्विशेषम्, आह—कथयति ।

भाषार्थ—इसीलिए भगवती श्रुति 'स यथा सैन्धवघनः' इत्यादिसे निर्विशेष चैतन्यमात्रका बोधन करती है ।

भाष्य

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इति । एतदुक्तं भवति । नाऽस्याऽऽत्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्, यथा सैन्धवघनस्याऽन्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

भाष्यका अनुवाद

और ब्रह्म चैतन्यमात्र, विलक्षणरूपान्तरसे रहित और निर्विशेष है, ऐसा श्रुति कहती है—'स यथा सैन्धवघनो' (जैसे लवणपिण्ड अन्दर और बाहर अन्य रससे रहित है, समस्त लवण एक रस ही है, वैसे ही हे मैत्रेयि ! यह आत्मा अन्दर और बाहर अन्यरूपसे रहित है सम्पूर्ण प्रज्ञान-घन ही है) तात्पर्य यह है कि इस आत्माका अन्दर और बाहर चैतन्यसे अन्य रूप नहीं है, किन्तु चैतन्य ही उसका निरन्तरस्वरूप है । जैसे कि सैन्धवपिण्डके अन्दर और बाहर लवणरस ही निरन्तर है, अन्य रस नहीं है ॥ १६ ॥

रत्नप्रभा

यतः श्रुतिश्चिन्मात्रमाह, अतश्च विशेषो मिथ्या इति सूत्रार्थमाह—आह चेति । सैन्धवघनः—लवणपिण्डः ॥ १६ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

चूंकि श्रुति आत्माको चिन्मात्र कहती है, अतः विशेष मिथ्या है, ऐसा सूत्रका अर्थ कहते हैं—“आह च” इत्यादिसे । सैन्धवघन—लवणपिण्ड ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

पदच्छेद—दर्शयति, च, अथो, अपि, स्मर्यते ।

पदार्थोक्ति—[‘अथात आदेशो नेति नेति’ इत्यादिश्रुतिः निषेधमुखेनैव ब्रह्म] दर्शयति—कथयति, च—अतः, अथो—तथा; स्मर्यतेऽपि—‘अनादिमत्परं ब्रह्म न सत् तन्मासदुच्यते’ इत्यादिभगवद्गीतावचनेन निषेधमुखतो ब्रह्म स्मृतमपि भवति ।

भाषार्थ—‘अथात आदेशो नेति नेति’ इत्यादि श्रुति निषेधमुखसे ही ब्रह्मका प्रतिपादन करती है, तथा भगवद्गीतामें ‘अनादिमत्परं ब्रह्म’ इत्यादिसे निषेधमुखसे ब्रह्मका स्मरण भी किया गया है ।

भाष्य

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—‘अथा त आदेशो नेति नेति’ (बृ० २।३।६) इति, ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि’ (के० १।३) इति, ‘यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’ (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या । वाष्कलिना च बाध्वः पृष्ठः सन्नवचनेनैव ब्रह्म

भाष्यका अनुवाद

और ‘अथात आदेशो० (दोनों रूपोंके व्याख्यानके अनन्तर उसके ब्रह्म-ज्ञानके हेतु होनेसे ब्रह्म मूर्त्त नहीं है और अमूर्त्त भी नहीं है यह उपदेश है) ‘अन्यदेव० वह विदित—व्यक्त कार्य और अविदित—अव्यक्त कारण इन दोनोंसे ही विलक्षण है), ‘यतो वाचो०’ (जहांसे वाणी मनके साथ पहुँचे बिना ही लौट आती है) इत्यादि श्रुतियां पररूपके—अनात्मरूपके प्रतिषेधसे ही ब्रह्मको दिखलाती हैं, निर्निशेष होनेसे । वाष्कलिसे पूछे गये बाध्वने अवचनसे

रत्नप्रभा

किञ्च, श्रुतिस्मृत्योः परप्रतिषेधेन ब्रह्मोपदेशात् निष्प्रपञ्चं ब्रह्मेत्याह—दर्शयति चेति । अथ द्वैतोक्यनन्तरं ज्ञानहेतुत्वात् “नेति नेति” उपदेशः क्रियते इत्यर्थः । अधि—अन्यत् । पुनः पुनरधीहि भो इति निर्बन्धकरणं तं द्वितीये तृतीये च प्रश्ने तूष्णीभावं त्यक्त्वा उवाच । उपशान्तः—निरस्तद्वैतः । अतस्तस्य तूष्णीभाव एवोक्त-

रत्नप्रभाका अनुवाद

किञ्च, श्रुति और स्मृति इन दोनोंमें परके निषेधसे ब्रह्मका उपदेश किया गया है, इससे ब्रह्म निष्प्रपञ्च है, ऐसा कहते हैं—“दर्शयति च” इत्यादिसे । अथ—द्वैतके कथनके अनन्तर ब्रह्मज्ञानका हेतु होनेसे “नेति नेति” ऐसा उपदेश किया है, यह अर्थ है । अधि—अन्यत् । मुझे उपदेश करो, ऐसा पुनः पुनः आग्रह करनेवालेसे उसके बुरे या तीसरे प्रश्नपर तूष्णीभाव—मौनभाव को छोड़कर कहा । उपशान्त—जिससे द्वैत निरस्त हो गया है । इससे उसका

भाष्य

प्रोवाचेति श्रूयते—‘स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्म इति स तूर्णीबभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मा’ इति । तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषधेनैवोपदिश्यते—

‘ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्मासदुच्यते ।’ (गी० १३।१२) इत्येवमाद्यासु ।
तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—

‘माया हेषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! ।

सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥’ इति ॥ १७ ॥

भाष्यका अनुवाद

ही ब्रह्मस्वरूप कहा, ऐसा सुना जाता है—‘स होवाच०’ (उसने कहा—हे भगवान् बाध्व ! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिए, ऐसा पूछनेपर भी वह चुप रहा, दूसरी या तीसरी बार पूछनेपर उसने उससे कहा—हम कह रहे हैं, परन्तु तुम उसे नहीं समझ रहे हो यह आत्मा उपशान्त है । इसी प्रकार स्मृतियोंमें भी अन्यके प्रतिषेधसे ही उसका उपदेश किया गया है—‘ज्ञेयं यत्तत् (जो ज्ञेय है उसे यथावत् कहूँगा, जिसे जानकर पुरुष मोक्षका उपभोग करता है—पुनः मरण नहीं पाता, वह परब्रह्म अनादि है, वह सत् या असत् नहीं कहा जाता) इत्यादिमें । और विश्वरूपधारण करनेवाले नारायणने नारद-से कहा—‘माया हेषा मया सृष्टा०’ (हे नारद ! मैंने यह माया रची है, जो कि तुम मुझे सर्वभूतगुणोंसे युक्त देखते हो, इसको मेरा यह वास्तविक रूप समझना, तुम्हारे लिए उचित नहीं है) ऐसी स्मृति है ॥ १७ ॥

रत्नप्रभा

रमिति । सौत्रश्चाथोशब्दः—तथार्थकः । आदिमत्कार्यं तन्न भवतीति अनादिमत् । सद् इन्द्रियवेद्यम् । असत् परोक्षं च न, स्वप्रकाशत्वादित्यर्थः । सर्वभूतगुणैर्दिव्य-गन्धादिभिर्युक्तं मां मूर्तिमन्तं पश्यसीति यत्, सा माया । अत एव सदैवो भगवा-निति मां द्रष्टुं नार्हसि । वस्तुतो द्वैतातीतत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

तूर्णीभाव ही उत्तर है । सूत्रमें अथशब्द तथाके अर्थमें है । आदिमत्—जिसका आदि हो वह कार्य है, ब्रह्म अनादिमत् है कार्य नहीं है । सत्—इन्द्रियवेद्य । असत्—परोक्ष भी ब्रह्म नहीं है, क्योंकि स्वयंप्रकाश है, ऐसा अर्थ है । सब भूतगुणोंसे—दिव्यगन्ध आदिसे युक्त मूर्तिमान् मुझे जो तुम देखते हो, वह माया है । उसीसे द्वैतसहित भगवान् हैं, ऐसा मुझको जानना, तुम्हारे लिए युक्त नहीं है, क्योंकि मैं वस्तुतः द्वैतातीत हूँ, ऐसा अर्थ है ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

पदच्छेद—अतः, एव, च, उपमा, सूर्यकादिवत् ।

पदार्थोक्ति—[यत एवायमात्मा चैतन्यैकरसः परप्रतिषेधोपदेश्यो निर्विशेषः]
अत एव—अस्मादेव हेतोः [‘यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा’ इत्यादिषु शास्त्रेषूपधिकृतं
सविशेषत्वमादाय] सूर्यकादिवत्—जलगत्सूर्यप्रतिबिम्बवत् उपमा—सादृश्यम्—
[दीयते न तु वस्तुगत्या ब्रह्म सविशेषमिति सूत्रस्यास्याऽभिप्रायः] ।

भाषार्थ—जिस कारणसे यह आत्मा चैतन्यैकरस परप्रतिषेधसे उपदेष्टव्य है,
उसीसे ‘यथा ह्ययम्’ इत्यादि शास्त्रोंमें उपाधिकृत सविशेषत्वको लेकर ही जलगत्
सूर्य-प्रतिबिम्बके समान यह जीव है—यह उपमा दी गई है, वस्तुतः ब्रह्म सविशेष
नहीं है, ऐसा इस सूत्रका भाव है ।

भाष्य

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रति-
षेधोपदेश्योऽत एव चाऽस्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य
जलसूर्यकादिवदित्युपमादीयते मोक्षशास्त्रेषु—

‘यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।

भाष्यका अनुवाद

जिस कारणसे यह आत्मा चैतन्यरूप, निर्विशेष, वाणी और मनश्च
अविषय और अन्य अर्थात् अनात्मस्वरूपके प्रतिषेधसे उपदेश करने योग्य है,
उसी कारणसे इसके उपाधिजन्य, अपारमार्थिक सविशेषरूपका उपदेशकर
मोक्षशास्त्रोंमें जलमें सूर्यके प्रतिबिम्बके समान, उपमाका ग्रहण किया
जाता है—‘यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा०’ (जैसे यह ज्योतिःस्वरूप सूर्य स्वतः एक
होनेपर भी भिन्न भिन्न जलोंमें भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब होनेसे अनेक प्रकारका किया

रत्नप्रभा

किञ्च, यथा जलाद्युपाधिकल्पितः सूर्यचन्द्रादेर्भेदचलनादिः धर्मः, एवमात्मन
इति दृष्टान्तश्रुतेश्च निर्विशेषं तत्त्वमित्याह—अत एव चोपमेति । जलस्थप्रति-
बिम्बत्वाकारेण सूर्यस्याऽऽभासत्वद्योतनाय सूर्यकेति कप्रत्ययः । यथा अयं ज्योतिर्मयो

रत्नप्रभाका अनुवाद

और जैसे सूर्य, चन्द्र आदिके भेद और कम्प आदि धर्म जल आदि उपाधियोंसे कल्पित हैं,
उसी प्रकार आत्माके भेद आदि धर्म उपाधिकल्पित हैं, इस दृष्टान्तश्रुतिसे ब्रह्म निर्विशेष तत्त्व है,
ऐसा कहते हैं—“अत एव चोपमा” इत्यादिसे । जलमें स्थित प्रतिबिम्बके आकारसे सूर्यका आभास

भाष्य

उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥' इति ।

‘एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥’ (ब्र० वि० १२) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

भाष्यका अनुवाद

जाता है, वैसे ही यह जन्मरहित, स्वप्रकाश आत्मा उपाधिसे भिन्न क्षेत्रोंमें अनुवृत्त होनेसे अनेक प्रकारका किया जाता है) इसमें और ‘एक एव हि भूतात्मा०’ (एक ही भूतात्मा प्रत्येक भूतमें विशेषरूपसे अवस्थित है, जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रप्रतिबिम्बके समान एकधा और बहुधा दीखता है) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें ॥ १८ ॥

यहांपर शंका की जाती है—

रत्नप्रभा

विवस्वान् स्वत एकोऽपि घटभेदेन भिन्नाः अपोऽनुगच्छन् बहुधा क्रियते, एवमजोऽयमात्मा देवः स्वप्रकाश एकोऽप्युपाधिना मायया क्षेत्रेष्वनुगच्छन् भेदरूपः क्रियत इति योजना ॥ १८ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, ऐसा सूचित करनेके लिए ‘सूर्यक’ शब्दमें ‘क’ प्रत्यय है । जैसे यह उद्योतिर्मय सूर्य स्वतः एक होनेपर भी घटभेदसे भिन्न दिखनेवाले जलमें अनुगत हुआ अनेक रूपवाला होता है, वैसे ही यह अज, स्वयंप्रकाश आत्मा एक होनेपर भी उपाधिसे—मायासे क्षेत्रोंमें अनुगत हुआ भेदरूप किया जाता है, इस प्रकार श्रुतिवाक्योंकी योजना करनी चाहिए ॥१८॥

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ॥ १९ ॥

पदच्छेद—अम्बुवत्, अग्रहणात्, तु न, तथात्वम् ।

पदार्थोक्ति—अम्बुवत्—यथा जलम् सूर्यरूपान्मूर्तान् भिन्नं दूरस्थं मूर्तं च गृह्यते, तद्वत् [अमूर्त्तात् सर्वात्मकात्मनो भिन्नदूरस्थोपाधेः] अग्रहणात्—ग्रहणाभावात् न तथात्वम्—न सूर्यतुल्यत्वमिति शङ्कार्थः ।

भाषार्थ—जैसे जल सूर्यरूप मूर्त्तसे पृथक् दूरस्थ और मूर्त्त गृहीत होता है, वैसे अमूर्त्त सर्वात्मक ब्रह्मसे पृथक् और दूरस्थ कोई उपाधि गृहीत नहीं होती है, अतः सूर्यका सादृश्य नहीं हो सकता है, यह शङ्काका तात्पर्य है ।

भाष्य

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते तद्वदग्रहणात् । सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्यः पृथग्भूतं विप्रकृष्टदेशं मूर्तं जलं गृह्यते । तत्र युक्तः सूर्यादिप्रतिबिम्बोदयः । न त्वात्मा मूर्तो न चाऽस्मात् पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधयः, सर्वगतत्वात् सर्वानन्यत्वाच्च । तस्मादयुक्तोऽयं दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिविधीयते—

भाष्यका अनुवाद

यहांपर जलसूर्य आदिके साथ समानता उपपन्न नहीं होती, क्योंकि आत्माका उसके समान ग्रहण नहीं होता है । कारण कि साकार सूर्यादिसे पृथग्भूत, दूरदेशमें स्थित साकार जलका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है । इसलिए उसमें सूर्यादिके प्रतिबिम्बका उदय युक्त है । परन्तु आत्मा साकार नहीं है और उपाधियां इससे पृथग्भूत और दूरदेशस्थ नहीं हैं; क्योंकि वह सर्वगत और सबसे अभिन्न है । इसलिए यह दृष्टान्त अयुक्त है ॥ १९ ॥

इस शङ्काका समाधान किया जाता है—

रत्नप्रभा

इहात्मनि उक्तदृष्टान्तवैषम्यशङ्कासूत्रम्—अम्बुवदिति । आत्मनो नीरूपत्वाद् दूरस्थोपाधभावाच्च, मायया बुद्ध्यदिषु प्रतिबिम्बभेदो न युक्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

यहांपर आत्मामें उक्त दृष्टान्तकी विषमताका प्रतिपादक यह शङ्कासूत्र है—“अम्बुवत्” इत्यादि । आत्माके रूपरहित होनेसे तथा दूरस्थ उपाधिके अभावसे मायाद्वारा बुद्धि आदिमें प्रतिबिम्बका भेद हो, यह कथन ठीक नहीं है, ऐसा अर्थ है ॥ १९ ॥

(१) दृष्टान्त वही हो सकता है, जो भिन्नतया पृथक् देशमें गृहीत होता हुआ समानधर्मा हो जैसे मुख्यमें अत्यन्तआकाशजनकत्वका स्रजन करनेके लिए चन्द्रका दृष्टान्त है, वह (चन्द्र) मुखदेशसे पृथक्तया भिन्नदेशमें गृहीत भी होता है और समानता भी आनन्दजनकत्वेन है । ठीक वैसे ही प्रकृतमें घटे तो जलसूर्यकादि दृष्टान्त हो, परन्तु वैसा घटता नहीं है, क्योंकि, आत्मा मूर्त-परिछिन्न-परिमाण या भिन्नतया पृथक् देशमें गृहीत नहीं है क्योंकि ‘दिव्यो ह्यमूर्तः’ ‘यश्चायं पृथिव्याम्’ इत्यादिश्रुतिसे आत्माके मूर्तत्व और भिन्नत्वका खण्डन किया गया है, अतः आत्मा न समानधर्मा है और न भिन्नतया पृथक् देशमें गृहीत है, इसलिए जलसूर्यकाका दृष्टान्त सर्वथा अनुपपन्न है, ऐसा समझकर पूर्वपक्षी पूर्वपक्ष करता है ।

वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

पदच्छेद—वृद्धिहासभाक्त्वम्, अन्तर्भावात्, उभयसामञ्जस्यात्, एवम् ।

पदार्थोक्ति—[यथा सूर्यप्रतिबिम्बस्य जलान्तर्वर्तिनो जलगतवृद्धिहास-
भाक्त्वं न स्वाभाविकम्] एवम्—तथा [निर्विशेषस्य परमात्मनो देहाद्युपाधिषु]
अन्तर्भावात्—अन्तर्गतत्वात् वृद्धिहासभाक्त्वम्—देहादिगतवृद्धिहासभाक्त्वम्
[न वास्तविकम्, इत्येतावतांशेन उभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः] सामञ्जस्यात्—
संगतत्वात् [भवति सूर्यादिदृष्टान्तः, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वांशेन समत्वं
ब्रह्मणापि चतुर्मुखेन वक्तुं शक्यम्, तथात्वे तदुच्छेदापातात्] ।

भाषार्थ—जैसे जलान्तर्गत सूर्यबिम्ब जलगत वृद्धि और हासका भागी
वस्तुतः नहीं होता, वैसे ही निर्विशेष परमात्माका देहादि उपाधिके अन्तर्भावसे
देहादिगत वृद्धि और हासका भाजन होना वास्तविक नहीं है, इसी अंशको लेकर
दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका परस्पर सादृश्य ठीक है, अतः सूर्यादि दृष्टान्त हो सकता
है । दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका सर्वांशमें सादृश्य तो ब्रह्मा भी नहीं कह सकते, यदि
सर्वांशमें साम्य हो, तो उसीका—दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभावका ही उच्छेद हो जायगा ।

भाष्य

युक्त एव त्वयं दृष्टान्तो विवक्षितांशसंभवात्, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः
कचित्कंचिद्विवक्षितांशं मुक्त्वा सर्वसारूप्यं केनचिद्दर्शयितुं शक्यते ।
सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात् । न चेदं स्वमनीषया
जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम् । शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्य-

भाष्यका अनुवाद

यह दृष्टान्त युक्त ही है, क्योंकि इसमें विवक्षित अंशका संभव है ।
दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकमें कचित् एक-आध विवक्षित अंशको छोड़कर
सर्वसारूप्य कोई नहीं दिखा सकता, क्योंकि सर्वथा यदि समानता हो, तो
दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकभावका उच्छेद ही हो जायगा । और जलसूर्यकादि

रत्नप्रभा

उपाध्यन्तर्भावेण तत्कल्पितधर्मवत्त्वम् अत्र विवक्षितांशः, तेन साम्येन समाधान-
सूत्रम्—वृद्धिहासेति । दृष्टान्तसाम्येऽपि नीरूपात्मनः प्रतिबिम्बः स्वबुद्ध्या कथं

रत्नप्रभाका अनुवाद

उपाधियोंमें अन्तर्भाव होनेसे उपाधियोंसे कल्पित धर्मवाला होना ही यहां विवक्षित अंश है,
उस साम्यसे समाधानसूत्र कहते हैं—“वृद्धिहास” इत्यादि । दृष्टान्तसाम्य होनेपर भी अपनी

भाष्य

रूपे । किं पुनरत्र विवक्षितं सारूप्यमिति । तदुच्यते—वृद्धिहासभाक्त्वमिति । जलगतं हि सूर्यप्रतिबिम्बं जलवृद्धौ वर्धते, जलहासे हसति, जलचलने चलति, जलभेदे भिद्यते इत्येवं जलधर्मानुयायि भवति, न तु परमार्थतः सूर्यस्य तथात्वमस्ति । एवं परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद् भजत इवोपाधिधर्मान् वृद्धिहासादीन्, एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सामञ्जस्यादविरोधः ॥२०॥

भाष्यका अनुवाद

दृष्टान्त अपनी बुद्धिसे नहीं रचे गये हैं । शास्त्रसे रचे गये इन दृष्टान्तोंके प्रयोजनमात्रका उपन्यास किया गया है । यहां विवक्षित सारूप्य क्या है ? उसे कहते हैं—वृद्धि-क्षयशाली होना ही सारूप्य है । जलमें स्थित सूर्यप्रतिबिम्ब जलकी वृद्धि होनेपर बढ़ता है और जलके क्षीण होनेपर क्षीण होता है, जलके हिलनेपर हिलता है और जलभेद होनेपर भिन्न होता है, इस प्रकार जलके धर्मोंका अनुसरण करता है, परन्तु परमार्थतः सूर्य वैसा नहीं है । इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म परमार्थसे अविकृत, एकरूप है, तो भी देहादि उपाधिके अन्तर्भावसे वृद्धि, क्षय आदि उपाधिके धर्मोंको मानो प्राप्त होता है । इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनोंके सामञ्जस्यसे अविरोध है ॥ २० ॥

रत्नप्रभा

कल्प्यत इत्याह—न चेदमिति । श्रूयते, न कल्प्यत इत्यर्थः । श्रुतदृष्टान्तस्य “सूर्यकादिवद्” (ब्र० सू० ३ । २ । १८) इत्युपन्यासेन किं फलमित्यत आह—शास्त्रेति । आत्मनो निर्विशेषत्वं फलमित्यर्थः । अविरोध इति । न वैषम्यमित्यर्थः । आत्मा प्रतिबिम्बशून्यः, नीरूपद्रव्यत्वाद्, वायुवदित्यनुमाने आकाशे व्यभिचारः । अल्पजले विदूराकाशप्रतिबिम्बदर्शनादुपाधिदूरस्थत्वमपि कच्चिदनपेक्षितमिति भावः ॥ २० ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

बुद्धिसे रूपरहित आत्माके प्रतिबिम्बकी कल्पना कैसे करते हो ? इसपर कहते हैं—“न चेदम्” इत्यादिसे । अपनी बुद्धिसे कल्पना नहीं करते, किन्तु सुनते हैं (श्रुतिमें ऐसा है) ऐसा अर्थ है । श्रुतिमें कहे गये दृष्टान्तका ‘सूर्यकादिवत्’ इसमें उपन्यास करनेसे क्या फल है, इसपर कहते हैं—“शास्त्र” इत्यादिसे । आत्मा निर्विशेष है, यह ज्ञान प्रयोजन है, यह अर्थ है । विरोध नहीं है अर्थात् वैषम्य नहीं है, ऐसा अर्थ है । आत्मा प्रतिबिम्बशून्य है, रूपशून्यद्रव्य होनेसे, वायुके समान, इस अनुमानमें आकाशमें हेतुका व्यभिचार होता है, क्योंकि अल्प जलम विदूर आकाशका प्रतिबिम्ब देखनेमें आता है, इस प्रकार उपाधिका दूरमें होना भी कहीं अपेक्षित नहीं है, ऐसा भाव है ॥२०॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

पदच्छेद—दर्शनात्, च ।

पदार्थोक्ति—[परस्य ब्रह्मणः देहान्तरनुप्रवेशस्य प्रतिबिम्बभावरूपस्य 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इत्यादिश्रुतौ] दर्शनात्—दृष्टत्वात् च [निर्विशेषमेव ब्रह्म सिद्धम् ।

भाषार्थ—प्रतिबिम्बभावरूप देहान्तरनुप्रवेश परब्रह्मका 'पुरश्चक्रे द्विपदः' इत्यादि श्रुतिमें देखा जाता है, अतः निर्विशेषरूप ब्रह्म सिद्ध है ।

भाष्य

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिषूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—

'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।

पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥' (बृ० २।५।१८) इति । 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इति च । तस्माद् युक्त-

भाष्यका अनुवाद

'पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे०' (परमेश्वरने दो पैरोंसे युक्त पुर—मनुष्यशरीर और पक्षिशरीर बनाये, चार पैरोंसे युक्त पुर—पशुशरीर बनाये, प्रथम वह परमेश्वर पक्षी—लिङ्गशरीरवाला होकर शरीरमें प्रविष्ट हुआ ।) 'अनेन जीवेन०' (इस जीवरूपसे प्रवेशकर) ये श्रुतियां परब्रह्मका ही देहादि उपाधियोंमें अनुप्रवेश

रत्नप्रभा

प्रवेशश्रुतेश्चोक्तानुमानबाध इत्याह सूत्रकारः—दर्शनाच्चेति । द्विपदः पुरः मनुष्यादिदेहाश्चक्रे । चतुष्पदः पुरः पशून् कृत्वा पुरः चक्षुराद्यभिव्यक्तेः पुरस्तात् सः ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरी भूत्वा पुर उक्तानि शरीराणि आविशत्, स च प्रविष्टोऽपि पुरुषः पूर्ण एवेत्यर्थः । तैत्तिरीयके लिङ्गस्य पक्षाद्युक्तेः पक्षित्वं मन्तव्यम् । एवं प्रतिबिम्बभावेन भेदादेः कल्पितत्वात् निर्विशेषं ब्रह्मेति स्वमतमुपसंहरति—

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रवेशश्रुतिसे उक्त अनुमानका बाध है, ऐसा सूत्रकार कहते हैं—“दर्शनाच्च” इत्यादिसे । उसने दो पैरवाले शरीर अर्थात् मनुष्य आदि शरीर बनाये, चार पैरवाले अर्थात् पशु-शरीर बनाकर प्रथम अर्थात् चक्षु आदिकी अभिव्यक्तिके पहले ही वह ईश्वर पक्षी अर्थात् लिङ्गशरीरवाला होकर उक्त शरीरोंमें प्रविष्ट हुआ वह प्रविष्ट होता हुआ भी पुरुष—पूर्ण ही है, ऐसा अर्थ है । तैत्तिरीयकमें लिङ्गशरीरकी पक्षी आदि रूपसे उक्ति है, अतः उसमें—ईश्वरमें पक्षित्व मानना

भाष्य

मेतत्—‘अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्’ (ब्र० सू० ३।२।१८) इति । तस्माभिर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम् ।

अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति । प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्त-मिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्म, उत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति ? द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणम् ब्रह्म, उत बोधलक्ष-

भाष्यका अनुवाद

दिखलाती हैं । इसलिये ‘अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्’ यह युक्त है । इससे सिद्ध हुआ कि निर्विशेष एक लिङ्गवाला ही ब्रह्म है, दो लिङ्गवाला या विपरीत लिङ्गवाला नहीं है ।

यहांपर कुछ लोग दो अधिकरणोंकी कल्पना करते हैं । पहला यह कि सम्पूर्ण प्रपञ्चसे शून्य एक आकारवाला ब्रह्म है, अथवा प्रपञ्चसे युक्त अनेक आकारवाला है ? दूसरा—वह सर्वप्रपञ्चशून्य है, ऐसा सिद्ध होनेपर वह सद्रूप है

रत्नप्रभा

तस्मादिति । एकदेशिव्याख्याम् उत्थापयति—अत्रेति । “न स्थानतोऽपि” (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यादि एकमधिकरणम् । तत्र ब्रह्मणो निष्प्र-पञ्चत्वे स्थिते किलक्षणं ब्रह्मेति सन्देहे “प्रकाशवच्च” (ब्र० सू० ३।२।१५) इत्यादि द्वितीयमधिकरणं प्रवृत्तम् । न सद्रूपमेव ब्रह्म, किन्तु प्रकाशवच्च—चिद्रूपं च । कुतः ? अवैयर्थ्यात् । “सत्यं ज्ञानम्” (तै० २।१।१) “सदैव सोम्य” इत्यभयश्रुतेद्विरूपे ब्रह्मणि अर्थवत्त्वादिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—‘आह च तन्मात्रम्’ (ब्र० सू० ३।२।१६) सन्मात्रं ब्रह्म श्रुतिराह, ज्ञानस्य सत्तान-

रत्नप्रभाका अनुवाद

चाहिए । इस प्रकार भेदादि प्रतिबिम्बभावसे कल्पित होनेसे ब्रह्म निर्विशेष है, ऐसे अपने मतका उपसंहार करते हैं—“तस्मात्” इत्यादिसे । एकदेशीकी व्याख्याका उत्थान करते हैं—“अत्र” इत्यादिसे । ‘न स्थानतोऽपि’ इत्यादि एक अधिकरण है । उसमें ब्रह्म निष्प्रपञ्च है, ऐसा सिद्ध होनेपर ‘ब्रह्मका क्या लक्षण है ?’ ऐसा सन्देह उपस्थित होनेपर ‘प्रकाशवच्च’ इत्यादि दूसरा अधिकरण प्रवृत्त हुआ । ब्रह्म सद्रूप ही नहीं है, किन्तु प्रकाशवत्—चिद्रूप भी है । किससे ? व्यर्थ न होनेसे अर्थात् ‘सत्यं ज्ञानम्’, ‘सदैव सोम्य’ इन दोनों श्रुतियोंको द्विरूप ब्रह्ममें सार्थक होनेसे ऐसा पूर्वपक्ष होनेपर सिद्धान्त—‘आह च तन्मात्रम्’ ब्रह्म सन्मात्र—सद्रूप है, ऐसा श्रुति कहती है, क्योंकि ज्ञान सत्तासे भिन्न नहीं है । इस दूसरे अधिकरणको दूषित

भाष्य

णम्, उतोभयलक्षणमिति । अत्र वयं वदामः—सर्वथाऽप्यानर्थक्यमधिकर-
णान्तरारम्भस्येति । यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं
प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरम-
धिकरणं 'प्रकाशवच्च' एतद् व्यर्थमेव भवेत् । न च सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोध-
लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'विज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं
वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत । नापि बोधलक्षण-
मेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६।१३)
इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत ।

भाष्यका अनुवाद

या ज्ञानरूप है या उभयरूप है? इसपर हम कहते हैं—अन्य अधिकरणका आरंभ करना सर्वथा अनर्थक है। यदि परब्रह्म अनेकलिंगवाला है, इसके निराकरणके लिए यह प्रयास हो, तो इसका 'न स्थानतोऽपि' इस पूर्व अधिकरणसे ही निराकरण हो गया है, इसलिए अग्रिम 'प्रकाशवच्च' यह अधिकरण व्यर्थ ही होगा। और ब्रह्म सद्रूप ही है, ज्ञानरूप नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'ज्ञानघनः' (विज्ञानरूप ही है) इत्यादि श्रुतियोंके व्यर्थ होनेकी नौबत आवेगी। और चैतन्यरहित ब्रह्मका चेतन जीवके आत्मरूपसे किस प्रकार उपदेश किया जायगा? वसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानरूप ही है, सद्रूप नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' ('है' इस प्रकार इसकी उपलब्धि करनी चाहिए) इत्यादि श्रुति व्यर्थ हो जायगी। और दूसरी बात यह है कि जिसका अस्तित्व

रत्नप्रभा

तिरेकादिति । इदं द्वितीयाधिकरणं दूषयति—अत्र वयमिति । द्वितीयाधिकरणस्य किं ब्रह्मणोऽनेकरूपत्वनिरासः फलम्, उत बोधरूपत्वनिरासः, आहोस्वित् सत्ता-
निरास इति विकल्प्य सर्वथाऽप्यानर्थक्यं प्रपञ्चयन् आद्ये गतार्थतामाह—यदि ताव-
दिति । न द्वितीयः इत्याह—न चेति । ब्रह्मणो बोधरूपत्वनिरासे जडत्वाज्जीवा-
भेदश्रुतिबाधश्च स्यादित्याह—कथं वेति । न तृतीय इत्याह—नापीति । सत्ता-

करते हैं—“अत्र वयम्” इत्यादिसे । द्वितीय अधिकरणका क्या फल है, क्या ब्रह्मके अनेक रूपका निरसन करना फल है या ब्रह्मके ज्ञानरूपका निरसन करना अथवा सत्त्वरूपका निरसन करना फल है, ऐसा विकल्प करके सर्वथा आनर्थक्यका विस्तार दिखलाते हुए प्रथम विकल्पमें गतार्थता कहते हैं—“न तावत्” इत्यादिसे । दूसरा विकल्प भी युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—“न च” इत्यादिसे । और ब्रह्मके ज्ञानरूपत्वका खण्डन करनेपर उसके जड़ होनेसे ‘जीवसे

भाष्य

नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्—
सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य
तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत । श्रुतत्वाददोष इति
चेत्, न; एकस्याऽनेकस्वभावन्युपपत्तेः । अथ—सत्तैव बोधः, बोध एव च

भाष्यका अनुवाद

नहीं है, उसका ज्ञान किस प्रकार किया जा सकता है ? इसी प्रकार ब्रह्म उभयरूप
ही है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पूर्वमें जिस सिद्धान्तका स्वीकार
किया गया है, उसके साथ विरोध होगा—सत्तासे भिन्न जो ज्ञान है उस ज्ञानसे
युक्त और ज्ञानसे भिन्न जो सत्ता है, उस सत्तासे युक्त ब्रह्म है, ऐसी प्रतिज्ञा करनेवालेको
पूर्व अधिकरणमें जिसका प्रतिषेध किया है, उस प्रपञ्चयुक्त ब्रह्मकी प्राप्ति होगी ।
श्रुतिप्रतिपादित होनेसे यह दोष नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो वह युक्त नहीं है,
क्योंकि जो एक है वह अनेक स्वभाववाला नहीं हो सकता है । सत्ता ही ज्ञान

रत्नप्रभा

निरासे बोधस्य तुच्छत्वं च स्यादित्याह—कथमिति । न च बोधस्य सत्तानतिरे-
कान्न तुच्छतेति वाच्यम्, सद्बोधपदयोर्व्याख्यानतिरेके पर्यायत्वप्रसङ्गात् । एवं
सिद्धान्तं फलाभावेन दूषयित्वा पूर्वपक्षं दूषयति—नापीति । प्रसङ्गमेवाह—सत्तेति ।
व्यावृत्तत्वम्+भिन्नत्वम् । निष्प्रपञ्चैकरूपत्वसिद्धान्तविरोधात् भिन्नोभयरूपत्वपूर्वपक्षा-
नुत्थानमित्यर्थः । उभयश्रुतिबलादुत्थानमिति शङ्कते—श्रुतत्वादिति । मेरुबिन्ध्य-
वद् परस्परं भिन्नसत्ताबोधयोरेकब्रह्माभेदशङ्का श्रुतिशतेनापि न युक्ता इत्याह—

रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्म अभिन्न है, इस श्रुतिका बाध होगा, ऐसा कहते हैं—“कथं वा” इत्यादिसे । तीसरा
विकल्प भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—“नापि” इत्यादिसे । सत्ताका निरास—खण्डन हो
जानेपर ज्ञान तुच्छ हो जायगा, ऐसा कहते हैं—“कथम्” इत्यादिसे । ज्ञान सत्तासे अभिन्न
होनेके कारण तुच्छ नहीं होगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि सत् और ज्ञान ये दोनों पद
एक ही अर्थके वाचक हों, तो इन दोनोंके पर्याय होनेका प्रसंग आवेगा । इस प्रकार फलके
अभावसे सिद्धान्तको दूषित करके पूर्वपक्षको दूषित करते हैं—“नापि” इत्यादिसे । प्रसङ्गको
ही कहते हैं—“सत्ता” इत्यादिसे । व्यावृत्तत्व-भिन्नत्व । ब्रह्म निष्प्रपञ्च एकरूप है, इस
सिद्धान्तके साथ विरोध होनेसे ‘भिन्न उभयरूप है’ इस पूर्वपक्षका उत्थान नहीं हो सकता,
ऐसा अर्थ है । परन्तु दो प्रकारकी श्रुतियाँ हैं, उनके बलसे पूर्वपक्ष उठ सकेगा, ऐसी शङ्का
करते हैं—“श्रुतत्वात्” इत्यादिसे । मेरु और बिन्ध्यके समान परस्पर भिन्न सत्ता और ज्ञान ये

भाष्य

सत्ता, नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति—यद्युच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्म उत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात् । सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि । अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुति-
ष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽवश्यं

भाष्यका अनुवाद

हे और ज्ञान ही सत्ता है, इन दोनोंकी परस्पर भिन्नता नहीं है, ऐसा यदि कहो, तो भी वह ब्रह्म सद्रूप है, या ज्ञानरूप है, या उभयरूप है ? यह विकल्प निर्विषयक हो जायगा । सूत्रोंकी योजना तो हमने एक अधिकरणमें ही की है । ब्रह्मविषयक श्रुतियोंके साकार और निराकार ब्रह्मका प्रतिपादन करनेसे परस्पर विरोध होनेपर निकार ब्रह्मका स्वीकार किया गया है, ऐसी दशामें

रत्नप्रभा

नेति । सद्बोधयोरभेदोऽस्ति न वा ? आद्ये श्रुतेरपि विरुद्धार्थत्वानुपपत्तेर्न पूर्व-
पक्षोत्थानम् इत्युक्तम् । सम्प्रति द्वितीयम् शङ्कते—अथ सत्तैवेति । सद्बोधपदयो-
र्वाच्यभेदोऽपि लक्ष्यैक्योपपत्तिः, अखण्डार्थस्वीकारादित्यर्थः । अखण्डार्थस्य पूर्वपक्ष-
त्वं न स्यात्, सिद्धान्तत्वात् । किञ्चात्र संशयोऽपि, अयुक्त इत्याह—तथापीति । एका-
धिकरणपक्षे सूत्राणि कथं नेयानीत्यत आह—सूत्राणीति । स्वपक्षे सूत्रसामञ्जस्यं
चेत्याह—अपि चेति । अवस्थापेक्षितगत्यर्थत्वेनोत्तरसूत्राणां पूर्वैकवाक्यत्वान्नाऽ-
धिकरणभेद इति भावः । आकारश्रुतीनां कल्पिताकारो गद्विरिति स्वमतमुक्तम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

दोनों एक ब्रह्मसे अभिन्न हैं, ऐसी शंका सैकड़ों श्रुतियोंके अवलम्बनसे भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—
“न” इत्यादिसे । सत् और ज्ञानमें भेद है अथवा नहीं ? प्रथम पक्षमें श्रुति भी विरुद्ध अर्थको
कहे, इसकी अनुपपत्ति है अतः पूर्वपक्षका उत्थान नहीं हो सकता, ऐसा कहा गया है ।
अब द्वितीय पक्षकी शंका करते हैं—“अथ सत्तैव” इत्यादिसे । सत्ता और ज्ञान इन दोनों
पदोंका वाच्य अर्थ भिन्न है, तो भी लक्ष्य अर्थमें ऐक्यकी उपपत्ति है, क्योंकि अखण्डार्थका
स्वीकार है, यह अभिप्राय है । अखण्ड अर्थ पूर्वपक्ष नहीं होगा, क्योंकि यही सिद्धान्त है ।
किंच, यहां संशय भी ठीक नहीं है, ऐसा कहते हैं—“तथापि” इत्यादिसे । एक अधिकरण है,
इस पक्षमें सूत्रोंका अर्थ किस प्रकार समझना चाहिए, इसपर कहते हैं—“सूत्राणि” इत्यादिसे ।
और अपने पक्षमें सूत्रोंका सामञ्जस्य है, ऐसा कहते हैं—“अपि च” इत्यादिसे । अवश्य अपेक्षित
ज्ञानरूप प्रयोजन होनेसे उत्तर सूत्रोंकी पूर्वके साथ एकवाक्यता होनेसे अधिकरणका भेद नहीं है
यह भाव है । कल्पित आकार ही आकार-प्रतिपादक श्रुतियोंकी गति है, ऐसा अपना मत कहा ।

भाष्य

वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः । तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवत्तराणि संपद्यन्ते । यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति, तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते । कथम् ? ये हि परविद्याधिकारे केचित् प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा—‘युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च’

भाष्यका अनुवाद

अन्य श्रुतियोंकी गति अवश्य कहनी चाहिए । और उस गतिको कहनेके लिए ‘प्रकाशवच्च’ इत्यादि सूत्रोंका अत्यन्त उपयोग होता है । ब्रह्मके आकारका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी प्रपञ्चप्रविलय द्वारा अनाकार ब्रह्मका ही ज्ञान कराती हैं, उनका पृथक् प्रयोजन नहीं है, ऐसा जो कहते हैं वह भी समीचीन-सा नहीं जान पड़ता । वह असमीचीन किस प्रकार है ? इस प्रकार कि पर विद्याके अधिकारमें ‘युक्ता ह्यस्य०’ (जैसे रथमें जुटे घोड़े हैं, वैसे ही इस आत्मामें जुटी हुई इन्द्रियाँ सो और दश हैं, यह आत्मा ही इन्द्रियाँ है, यही दश, सहस्र, बहु और अनन्त

रत्नप्रभा

प्रपञ्चविलयवादिनस्तु ‘मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः’ (छा० ३।१।४।२) इत्याद्याकारश्रुतीनां तदितराकारप्रविलयो गतिरित्याहुः । मनोमय इति—कोऽर्थः, मनोऽतिरिक्तोपाधिशून्य इत्यर्थः । एवं प्राणशरीरपदेन प्राणातिरिक्तोपाधिनिषेधान्मनसोऽप्यभावसिद्धिः । एवं सर्वे शब्दा अनाकारब्रह्मपरा एवेति तन्मतम् अनुद्यद्वषयति—यदपीत्यादिना । किं ज्ञेयब्रह्मप्रकरणस्थानाम् आकारशब्दानां निषेधपरत्वम् उत उपासनाप्रकरणस्थानामपि । तत्र आद्यम् अङ्गीकरोति—ये हीति । अस्य जीवभावं प्राप्तस्य ईश्वरस्य । दश हरयः विषयाहरणाद् दशेन्द्रियाणि, प्राणिभेदापेक्षया शतानि सहस्राणि च, तेषामीश्वराद् भेदमाशङ्क्याह—अयमिति ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

प्रपञ्चका विलय कहनेवाले तो ‘मनोमयः प्राणशरीरः०’ इत्यादि आकार-प्रतिपादके श्रुतियोंकी गति—उससे अन्य आकारका प्रविलय है, ऐसा कहते हैं । ‘मनोमयः’ इसका क्या अर्थ है ? मनसे अन्य उपाधिसे रहित, यह अर्थ है । इसी प्रकार ‘प्राणशरीरः’ (प्राणसे अन्य उपाधिसे शून्य) इस पदसे प्राणसे अन्य उपाधिका निषेध होनेसे मनका भी अभाव सिद्ध होता है । इस प्रकार सब शब्द अनाकार ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं, ऐसा प्रपञ्चविलयवादीके मतका अनुवाद करके उसको दूषित करते हैं—“यदपि” इत्यादिसे । क्या ज्ञेय ब्रह्मके प्रकरणमें आये हुए आकारशब्द निषेधपरक हैं या उपासनाप्रकरणमें आये हुए शब्द भी ? उसमें प्रथम पक्षका स्वीकार करते हैं—“ये हि” इत्यादिसे । अस्य—जीवभावको प्राप्त

भाष्य

(बृ० २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमन-
परमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इत्युपसंहारात् । ये पुनरुपासनाविधाना-
धिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२)
इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्, 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा०
३।१४।१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनैवोपासनविधिना तेषां संबन्धात् ।
श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया

भाष्यका अनुवाद

है) इत्यादि प्रपञ्च—विस्तारसे कहा गया है वह प्रविलयात्मक हो, क्योंकि
'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्' (वह ब्रह्म है जिसका पूर्व—कारण नहीं, पर—कार्य नहीं,
अन्तर नहीं) ऐसा उपसंहार है । परन्तु 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (आत्मा
मनोमय, प्राणशरीर और चैतन्यरूप है) इत्यादि प्रपञ्च जो उपासनाविधानके
अधिकारमें कहा गया है, वह प्रविलयार्थक है, ऐसा कहना उचित नहीं है,
क्योंकि 'स क्रतुं कुर्वीत' (वह क्रतु—अध्यवसाय करे) इस प्रकार प्रकृत उपासना-
विधिके साथ उस प्रपञ्च का सम्बन्ध है । श्रुतिसे—अभिधावृत्तिसे इस प्रकारके
गुण उपासनार्थक हैं, ऐसा संभव होनेसे लक्षणवृत्तिसे उनका प्रविलय अर्थ
नहीं हो सकता । और सब प्रपञ्चोंका प्रविलय ऐसा साधारण अर्थ हो तो

रत्नप्रभा

ईश्वर एव हरय इत्यर्थः । द्वितीयं दूषयति—ये पुनरिति । मनोमयादि-
शब्दानां मुख्यवृत्त्या गुणपरत्वसम्भवे निषेधलक्षणापि न युक्ता इत्याह—श्रुत्या
चेति । किञ्चाकारानाकारश्रुतिद्वैविध्ये सति ब्रह्म अनाकारमेव इत्यत्र किं विनिगमकमिति
शङ्कोत्थानाद् अस्थूलादिश्रुतीनां निराकारतात्पर्यं नियामकमिति कथनार्थमिदं सूत्रमर्थ-
वद् भवति । सर्वश्रुतीनां निषेधार्थत्वे तु शङ्कानुत्थानात् नियामकसूत्रं व्यर्थं

रत्नप्रभाका अनुवाद

हुए ईश्वरके दश हरि—इन्द्रियाँ हैं । विषयोंका आहरण करती हैं, इसलिए इन्द्रियोंको हरि
कहा है । [यद्यपि इन्द्रियाँ दस हैं, तथापि] प्राणियोंके भेदकी अपेक्षासे सौ और हज़ार
हैं । उनका आत्मासे भेद है, ऐसी आशंका करके कहते हैं—“अयम्” इत्यादिसे ।
ईश्वर ही इन्द्रियाँ हैं, यह अर्थ है । अब द्वितीय पक्षको दूषित करते हैं—“ये पुनः”
इत्यादिसे । मुख्य वृत्तिसे मनोमय आदि शब्दोंके गुणपरत्वका संभव होनेसे निषेधमें लक्षणा
भी युक्त नहीं है ऐसा कहते हैं—“श्रुत्या च” इत्यादिसे । किंच, आकार और
अनाकारके भेदसे श्रुतिका द्वैविध्य होनेपर ब्रह्म अनाकार ही है, उसमें विनिगमक क्या है इस प्रकार
शंकाके उद्भवसे 'अस्थूलम्' इत्यादि श्रुतियोंका निराकारतात्पर्य नियामक है, ऐसा कहनेके लिए

भाष्य

प्रविलयार्थत्वमवकल्पते । सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपव-
देव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।१४) इति विनिगमनकारणवचन-
मनवकाशं स्यात् । फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद् दुरितक्षयः क्वचिदैश्वर्य-
प्राप्तिः क्वचित् क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थमेव उपासनावाक्या-
नां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम् । कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत
इति वक्तव्यम् । एकनियोगप्रतीतिः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्,

भाष्यका अनुवाद

'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' ऐसा जो विनिगमनाका कारण कहा गया है, वह
निरवकाश हो जायगा । और उसका फल भी उपदेशके अनुसार कहींपर पापका
क्षय, कहींपर ऐश्वर्यकी प्राप्ति और कहींपर क्रममुक्ति, ऐसा समझा जाता है ।
उससे उपासनावाक्य और ब्रह्मवाक्योंकी पृथगर्थता मानना ही ठीक है, एकवाक्यता
मानना ठीक नहीं है । और इन वाक्योंकी एकवाक्यता किस प्रकार हो सकती है, वह
कहना चाहिए । प्रयाज और दर्शपूर्णमासके वाक्योंके समान एक नियोग प्रतीत
होता है, उससे इनकी एकवाक्यता है, यदि ऐसा कहो, तो यह कथन युक्त नहीं है,

रत्नप्रभा

स्यादित्याह—सर्वेषाञ्चेति । ननु उपासनार्थवाक्यानां स्वार्थे फलभावात् सफल-
निषेधवाक्यशेषत्वम् इत्याशङ्क्य तस्य श्रुतत्वात् नान्यशेषता इत्याह—फलमपीति । अर्थे-
क्याभावाच्च नैकवाक्यता इत्याह—कथञ्चेति । अर्थेक्यं शङ्कते—एकेति । यथा फल-
वत्परमापूर्वाख्यनियोगैक्यात् अङ्गप्रधानवाक्यानाम् एकवाक्यता, तथा तत्त्ववबोधकाम-
स्य प्रपञ्चप्रविलयविषयक एको नियोगरूपोऽर्थोऽस्ति इत्याकारानाकारवाक्यानां सर्वेषा-

रत्नप्रभाका अनुवाद

यह सूत्र सप्रयोजन है । परन्तु सब श्रुतियाँ निषेधार्थक हों, तो शंका नहीं होती, इसलिए
नियामक सूत्र व्यर्थ होगा, ऐसा कहते हैं—“सर्वेषाम्” इत्यादिसे । परन्तु उपासनावाक्योंके
स्वार्थमें फलका अभाव होनेसे वे फलयुक्त निषेधवाक्योंके अंग हैं, ऐसी आशंका करके उनके
फलका श्रुतिमें श्रवण होनेसे अन्य वाक्योंके अंग नहीं हैं, ऐसा कहते हैं—“फलमपि” इत्यादिसे ।
एक अर्थके अभाव होनेसे भी एकवाक्यता नहीं है, ऐसा कहते हैं—“कथञ्च” इत्यादिसे ।
एकार्थत्वकी शंका करते हैं—“एक” इत्यादिसे । जैसे परम अपूर्वरूप फलवान् नियोगके एक
होनेसे अंगवाक्य और प्रधानवाक्योंकी एकवाक्यता है, वैसे तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेवालेको
प्रपञ्चका प्रविलयविषयक एक नियोगरूप अर्थ है, अतः आकारवाक्य और अनाकारवाक्य

भाष्य

न; ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात् । वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब० सू० १।१।४) इत्यत्र । किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम् । पुरुषो हि नियुज्यमानः कुरु इति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्मियुज्यते । ननु द्वैतप्रपञ्च-प्रविलयो नियोगविषयो भविष्यति । अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्म-तत्त्वावबोधो न भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविला-प्यः, यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यते एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः, यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुधुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यते, एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुधुत्समानेन तत्प्रत्यनीक-भूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः । ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं

भाष्यका अनुवाद

क्योंकि ब्रह्मवाक्योंमें नियोगका अभाव है । ब्रह्मवाक्योंका वस्तुमात्रमें पर्यवसान होता है, वे नियोगका उपदेश नहीं करते, ऐसा 'तत्तु समन्वयात्' इस सूत्रमें विस्तारसे सिद्ध किया जा चुका है । और यहां नियोगका विषय क्या अभिप्रेत है, उसे कहना चाहिए, क्योंकि जो पुरुष नियुक्त होता है वह 'करो' ऐसे किसी एक अपने व्यापारमें नियुक्त किया जाता है । परन्तु (यहां शंका होती है) द्वैतप्रपञ्च का प्रविलय जबतक नहीं किया जाय, तबतक ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिए ब्रह्मतत्त्वके ज्ञानका प्रतिबन्धक जो द्वैतप्रपञ्च है, उसका प्रविलय करना चाहिए । जैसे स्वर्गी की इच्छा करनेवालेको यागका अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा उपदेश किया जाता है, वैसे ही मुमुक्षुके लिए प्रपञ्चके प्रविलयका उपदेश किया जाता है । और जैसे अन्धकार में स्थित घटादि तत्त्वको जाननेकी इच्छा करने-वाला उस तत्त्वके प्रतिबन्धक अन्धकार का प्रविलय करता है, उसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी इच्छा करनेवालेको उस तत्त्वके प्रतिबन्धक प्रपञ्चका प्रविलय

रत्नप्रभा

मेकवाक्यतेत्यर्थः । नियोगासिद्ध्या दृषयति—नेति । विषयं शङ्कते—ननु द्वैतेति प्रत्यनी-कम्—प्रतिबन्धकम् । ननु प्रपञ्चविलये ब्रह्मलयः स्याद्, अमेदादित्यत आह—ब्रह्मस्वभावो

रत्नप्रभाका अनुवाद

इन सबकी एकवाक्यता है, ऐसा अर्थ है । नियोगकी असिद्धिसे दूषित करते हैं—“न” इत्यादिसे । विषयकी शंका करते हैं—“ननु द्वैत” इत्यादिसे । प्रत्यनीक—प्रतिबन्धक । प्रपञ्च और ब्रह्मका अमेद होनेसे प्रपञ्चका लय होनेपर ब्रह्मका भी लय हो, इसपर कहते हैं—“ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चः” इत्यादि । कार्यका स्वरूप कारण है, इससे कार्यका नाश होता है,

भाष्य

ब्रह्म, तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति । अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम । किमग्निप्रतापसंपर्काद् घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्य आहोस्विदेकस्मिन्ने तिभिरकृता-नेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति ? तत्र यदि तावद्विद्यमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्येत स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात् । एकेन चादिमुक्तेन

भाष्यका अनुवाद

करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म जिसका स्वभाव है, ऐसा प्रपञ्च है, प्रपञ्च जिसका स्वभाव है, ऐसा ब्रह्म नहीं है, ऐसी शंका होनेपर हम पूछते हैं—यह प्रपञ्चका प्रविलय क्या है ? क्या जैसे अग्निके सम्पर्कसे घृतकी कठिनता का प्रविलय होता है, वैसे प्रपञ्चका प्रविलय करना चाहिए या एक चन्द्रमें नेत्रदोषसे किये गये अनेक चन्द्रोंके प्रपञ्चके समान ब्रह्ममें अविद्याकृत नाम-रूपप्रपञ्चका विद्यासे प्रविलय करना । उनमें यदि विद्यमान (सत्य) देहादिरूप आध्यात्मिक और पृथ्वी आदि बाह्य प्रपञ्चका प्रविलय करना चाहिए यह कहो, तो यह विद्यमान प्रपञ्चका प्रविलय पुरुषमात्रसे शक्य न होनेसे उसके प्रविलय का उपदेश अशक्य-

रत्नप्रभा

हि प्रपञ्च इति । कारणं हि कार्यस्य स्वरूपम्, अतः कार्यनाशेऽपि कारणस्य न लयः घटनाशेऽपि मृद्दर्शनादित्यर्थः । प्रपञ्चस्य सत्यस्य कल्पितस्य वा लये विधिरिति विकल्प्य आद्यं दूषयति—तत्र यदि तावदिति । सत्यस्य ज्ञानादध्वस्तेः मुसलादिना च कृत्स्नद्वैतध्वंसायोगात् नभोप्रसनविधिवत् अशक्यविषयोऽयं विधिः । किञ्च, शुकादि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

तो भी कारणका नाश नहीं होता, क्योंकि घटका नाश होता है, तो भी मृत्तिका देखनेमें आती है, ऐसा अर्थ है । सत्य प्रपञ्चके या कल्पित प्रपञ्चके लयका विधान है, ऐसा विकल्प करके प्रथम पक्षको दूषित करते हैं—“तत्र यदि तावत्” इत्यादिसे । सत्य वस्तुका ज्ञानसे ध्वंस नहीं होता है और समस्त द्वैतका मुसल आदिसे ध्वंस नहीं हो सकता है, अतः आकाशकी प्रसनविधिके समान यह प्रपञ्चध्वंस अशक्य है, ऐसा अर्थ है । और शुक आदिकी मुक्तिसे सभीकी मुक्ति होगी, यह अभिप्राय है । द्वितीय पक्षका अनुवाद करके उसे दूषित

भाष्य

पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत् । अथाऽविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्यत इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनाऽऽवेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति । तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तथा चाऽविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रविलीयते । अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते । नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चप्रविलयविषयो वा नियोगः

भाष्यका अनुवाद

विषयवाला ही होगा, और एक आदि मुक्त पुरुषसे पृथ्वी आदिका प्रविलय किया गया होता तो आज जगत् पृथ्वी आदिसे रहित होता । एक ब्रह्ममें अविद्यासे अध्यस्त हुए इस प्रपञ्चका विद्यासे प्रविलय किया जाता है, ऐसा यदि कहो, तो अविद्यासे अध्यस्त हुए प्रपञ्चके निराकरणसे ब्रह्म ही जानना युक्त है—'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म), 'तत्सत्यं स आत्मा०' (वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है) । उस ब्रह्मके ज्ञात होनेपर विद्या आप ही आप उत्पन्न होती है और उस विद्यासे अविद्याका बाध होता है । और तदनन्तर अविद्यासे अध्यस्त हुए इस सकल नामरूपप्रपञ्चका स्वप्नप्रपञ्चके समान प्रविलय होता है । परन्तु ब्रह्मके ज्ञात न होनेपर 'ब्रह्मका विज्ञान करो' 'प्रपञ्चका प्रविलय करो' ऐसा सैकड़ों बार कहनेपर भी ब्रह्मका विज्ञान या प्रपञ्चका प्रविलय नहीं हो

रत्नप्रभा

मुक्त्या सर्वमुक्तिः स्यादित्यर्थः । द्वितीयम् अनूद्य दूषयति—अथेत्यादिना । उपदेश-जन्यज्ञानादेव अविद्यातज्जन्यप्रपञ्चलसिद्धिर्नियोगो वृथेत्यर्थः । किञ्च, ब्रह्मज्ञानादौ विधिः किं ब्रह्मण्यज्ञाते ज्ञाते वा ? नाद्यः अशक्यत्वादित्याह—अनावेदिते त्विति । द्वितीयं शङ्कते—नन्विति । उपदेशादेव ज्ञाते ब्रह्मणि साक्षात्कारद्वैतबाधयोः

रत्नप्रभाका अनुवाद

करते हैं—“अथ” इत्यादिसे । उपदेशजन्य ज्ञानसे ही अविद्या और तज्जन्य प्रपञ्चका लय सिद्ध होगा, अतः नियोग वृथा ही है, ऐसा अर्थ है । और ब्रह्मज्ञान आदिमें जो विधि कहते हो, वह अज्ञात ब्रह्ममें है या ज्ञात ब्रह्ममें ? अशक्य होनेसे प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, ऐसा कहते हैं—“अनावेदिते तु” इत्यादि । दूसरे पक्षकी शंका करते हैं—“ननु” इत्यादिसे । उपदेशजन्य ब्रह्मज्ञानसे साक्षात्कार और द्वैतबाध

भाष्य

स्यात् । न, निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वावेदनेनैवोभयसिद्धेः । रज्जुस्वरूप-
प्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति ।
न च कृतमेव पुनः क्रियते । नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते
जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद् ब्रह्मपक्षस्यैव वा ? प्रथमे विकल्पे
निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात् कस्य
प्रपञ्चप्रविलये नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य
उच्येत । द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं
त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावाभियोगाभाव एव ।

भाष्यका अनुवाद

सकता । परन्तु ब्रह्मके ज्ञात होनेपर उसके विज्ञानके लिए या प्रपञ्चके विलयके
लिए नियोग होगा । नहीं, ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रपञ्चरहित ब्रह्मस्वरूपके
आवेदनसे ही दोनों सिद्ध होते हैं । रज्जुके स्वरूपके प्रकाशसे ही उसके स्वरूप-
का विज्ञान और अविद्यासे अध्यस्त हुए सर्पादि प्रपञ्चका प्रविलय होता है । और
जो किया गया हो, वही फिर नहीं किया जाता । प्रपञ्चकी अवस्थामें जो
जीव नियोज्य समझा जाता है वह प्रपञ्चपक्षका ही है या ब्रह्मपक्षका ? प्रथम
विकल्पमें प्रपञ्चरहित ब्रह्मत्वका प्रतिपादन होनेसे पृथिवी आदिके समान जीवका
भी प्रविलय हो गया है, अतः प्रपञ्चके प्रविलयमें किसका नियोग कहा जाय,
नियोगनिष्ठ होनेसे किसको मोक्ष प्राप्तव्य है, ऐसा कहा जाय ? दूसरे विकल्पमें
भी ब्रह्म ही अनियोज्य जीवका स्वरूप है और जीवत्व तो अविद्यासे ही हुआ है,

रत्नप्रभा

सिद्धेर्विधिवैयर्थ्यम्, सिद्धस्य विधिना कर्तुमयोगादित्याह—नेति । एवं विषया-
भावात् नियोगाभावमुक्त्वा नियोज्याभावात् तदभावमाह—नियोज्योऽपि चेति ।
प्रपञ्चान्तर्भूतो, ब्रह्म वेत्यर्थः । आद्ये जीवनाशाद् विध्ययोगः, द्वितीये नियोज्या-

रत्नप्रभाका अनुवाद

सिद्ध है, इससे विधि व्यर्थ है, क्योंकि जो सिद्ध है, उसमें विधि व्यर्थ है, जो
सिद्ध है, उसको विधि नहीं कर सकती है ऐसा कहते हैं—“न” इत्यादिसे । इस प्रकार
विषयके अभावसे नियोगका अभाव कहकर नियोज्यके अभावसे उसका अभाव कहते
हैं—“नियोज्योऽपि च” इत्यादिसे । प्रपञ्चान्तर्भूत जीव है अथवा ब्रह्म ही जीव है,
ऐसा अर्थ है । प्रथम पक्षमें जीवका नाश होनेसे विधिका अयोग है, द्वितीय पक्षमें

भाष्य

द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति । लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवञ्जातीय-
केषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति । ज्ञेया-
भिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते । तस्मात्तं प्रति
ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन । तस्मिन् दर्शिते स्वयमेव
यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते । न च प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽ-

भाष्यका अनुवाद

ऐसा प्रतिपादन हुआ । इससे ब्रह्म नियोज्य नहीं हो सकता, इसलिए उसमें
नियोगका अभाव ही है । और परविद्याके अधिकारमें पठित 'द्रष्टव्य' आदि
शब्दोंका भी तात्पर्य तत्त्वके अभिमुख करनेमें ही है, तत्त्वज्ञानका विधान करनेमें
नहीं है । लोकमें (व्यवहारमें) भी 'यह देखो' 'यह सुनो' इस प्रकारकी आज्ञाओंमें
'एकाग्र मन करो' ऐसा कहा जाता है, 'साक्षात् ज्ञान ही करो' ऐसा नहीं कहा
जाता । जो ज्ञेयके अभिमुख होता है, उस पुरुषको भी कदाचित् ज्ञान होता है
और कदाचित् नहीं होता है । इसलिए जो ज्ञान कराना चाहता है, उसे उसको
ज्ञानका विषय ही दिखलाना पड़ता है, उसको दिखलानेसे विषय और प्रमाणके

रत्नप्रभा

सिद्धिः । तर्हि ज्ञाने विधिप्रत्ययानां का गतिरित्यत आह—द्रष्टव्यादिशब्दा
इति । ननु श्रुतं ज्ञानं त्यक्त्वा तत्साधनव्यापारविधिः किमिति कल्प्यत इत्याशङ्-
क्य ज्ञानस्य पुरुषकृत्यसाध्यत्वादित्याह—ज्ञेयाभिमुखस्यापीति । किञ्च, ज्ञानविधि-
वादिना ज्ञेयं ब्रह्माऽवश्यं वेदान्तैर्ज्ञापनीयम्, विषयानवबोधे विधिबोधायोगात् । तथा
च वेदान्तैरेव ज्ञानोत्पत्तेर्विध्यानार्थक्यमित्याह—तस्मादिति । तं ज्ञानार्थिनं प्रती-
त्यर्थः । ननु उत्पन्नं ज्ञानम् अन्यथाकर्तुं विधिरर्थवानिति, नेत्याह—न चेति । ननु

रत्नप्रभाका अनुवाद

नियोज्याभाव की सिद्धि होगी । तब जो ज्ञानवाक्योंमें विधिप्रत्यय हैं उनकी क्या गति
होगी ? इसपर कहते हैं—“द्रष्टव्यादिशब्दाः” इत्यादिसे । श्रुत ज्ञानको छोड़कर उसके साधन-
व्यापार-विधिकी कल्पना क्यों करते हो ? ऐसी आशङ्का करके ज्ञानके पुरुषकृतिसाध्य न
होनेसे, ऐसा कहते हैं—“ज्ञेयाभिमुखस्य” इत्यादिसे । किञ्च, ज्ञानविधिवादीको ज्ञेय
ब्रह्मका वेदान्तोंसे अवश्य ज्ञान कराना होगा, क्योंकि विषयका अवबोध न होनेपर
विधिका बोध नहीं होता है । एवञ्च वेदान्तोंसे ही ज्ञान उत्पन्न होगा, तो विधि व्यर्थ है,
ऐसा कहते हैं—“तस्मात्” इत्यादिसे । उस ज्ञानार्थीके प्रति, ऐसा अर्थ है । उत्पन्न ज्ञानके
अन्यथाकरणके लिए विधि है ? नहीं ऐसा कहते हैं—“न च” इत्यादिसे । परन्तु योषित्

भाष्य

र्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते । यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथाज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी सा क्रिया । स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात् । ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न तन्नियोग-शतेनापि कारयितुं शक्यते । न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते । नहि तत्पुरुषतन्त्रम्, वस्तुतन्त्रमेव हि तत् । अतोऽपि नियोगाभावः, किञ्चा-ऽन्यत्, नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं

भाष्यका अनुवाद

अनुसार अपने आप ही ज्ञान उत्पन्न हो जाता है । और अन्य प्रमाणोंसे अन्य प्रकारसे प्रसिद्ध अर्थमें अन्य प्रकारसे नियुक्तको भी ज्ञान नहीं होता । परन्तु जो 'मैं नियुक्त हूँ' ऐसा समझकर अन्यथा ज्ञान करे, तो वह ज्ञान नहीं है । तब क्या है ? वह मानसी क्रिया है और आप ही जो अन्यथा उत्पन्न हो, तो भ्रान्ति ही है । ज्ञान तो प्रमाणजन्य है और विषयके अनुसार है, वह सौ नियोगोंसे भी नहीं कराया जा सकता है, या सौ प्रतिषेधसे भी उसका निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह पुरुषके अधीन नहीं है, किन्तु वह तो वस्तुके अधीन है, इससे भी नियोगका अभाव है । और दूसरी बात है कि यदि वेदवाक्योंका नियोग निष्ठतामें ही पर्यवसान हो, तो अनियोज्य ब्रह्म जीवका स्वरूप है, ऐसा जो स्वीकार किया

रत्नप्रभा

‘अनग्निर्योषिद्’ इति प्रत्यक्षप्रमाणात् उत्पन्नमपि ज्ञानं ‘तामग्निं ध्यायेद्’ इति विधि-ना अन्यथाकृतं दृश्यते इत्यत आह—यदीति । अन्यथाधीः कृतिसाध्या चेत् क्रियैव, कृतिं विनैव चेद् भ्रान्तिरेव, अतो मानं विना विधितो ज्ञानासिद्धेर्मानवस्तुतन्त्रे ज्ञाने विधिः मृषेत्यर्थः । वेदान्तेषु विधिवादिनोऽन्यच्च दूषणमस्तीत्याह—किञ्चान्यदिति । ब्रह्मात्मैक्ये नियोगे च वेदान्तवाक्यस्य प्रामाण्यम् आशङ्क्य अर्थभेदाद् वाक्यभेदो

रत्नप्रभाका अनुवाद

अग्नि नहीं है’ इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान ‘उसका अग्निरूपसे ध्यान करो’ इस विधिसे अन्यथाकृत देखा जाता है, इसपर कहते हैं—“यदि” इत्यादिसे । अन्यथाबुद्धि यदि कृतिसाध्य है, तो वह क्रिया ही है, और यदि कृतिके बिना हुई है तो भ्रान्ति ही है, अतः प्रमाणके बिना विधिसे ज्ञान नहीं होता, इसलिए प्रमाण और वस्तुके अधीन होनेसे ज्ञानका विधान व्यर्थ ही है । और वेदान्तोंमें विधि कहनेवालोंके मतमें अन्य भी दूषण है, ऐसा कहते हैं—“किञ्चान्यत्” इत्यादिसे । ब्रह्मात्मैक्यमें और नियोगमें वेदान्तवाक्यके प्रामाण्यकी आशङ्का करके

भाष्य

जीवस्य तदप्रमाणकमेव स्यात् । अथ शास्त्रमेवाऽनियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्या-
चक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुञ्जीत ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य द्वावर्थपरता
विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम् । नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना
कर्मफलबन्मोक्षफलस्याऽदृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येवमादयो दोषा न केनचित्
परिहर्तुं शक्याः । तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि न नियोगनिष्ठानि ।
अतश्चैकनियोगप्रतीतिरेकवाक्यतेत्युक्तम् । अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु
नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चाऽसिद्धम् ।

भाष्यका अनुवाद

गया है, वह प्रमाणरहित ही हो जायगा । यदि शास्त्र ही अनियोज्य ब्रह्म जीवका
आत्मा है, ऐसा कहे और उसके बोधमें पुरुषको नियुक्त करे, तो एक ब्रह्मशास्त्र
दो अर्थ प्रतिपादन करनेवाला तथा विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है, ऐसा
प्राप्त होगा । वेदवाक्योंका तात्पर्य नियोगमें हो, तो श्रुतकी हानि और अश्रुतकी
कल्पना, कर्मफलके समान मोक्षफलका अदृष्टफलत्व होना, तथा अनित्य होना,
इत्यादि दोषोंका किसीसे भी परिहार नहीं हो सकेगा । इससे सिद्ध हुआ कि
ब्रह्मवाक्य ज्ञाननिष्ठ ही हैं, नियोगनिष्ठ नहीं हैं, इसलिये एक नियोगकी प्रतीति
होनेसे उनकी एकवाक्यता है, ऐसा कहना उचित नहीं है । और ब्रह्मवाक्योंमें
नियोगका सद्भाव है, ऐसा स्वीकार करनेपर भी निष्प्रपञ्च उपदेशोंमें और सप्रपञ्च

रत्नप्रभा

विरुद्धार्थत्वादप्रामाण्यं चेति दूषयति—अथेत्यादिना । किञ्च, श्रुतं ब्रह्म, न श्रुतो
विधिर्वेदान्तेषु तत्करूपने च कर्मजन्यत्वान्मोक्षस्याऽनित्यत्वसातिशयत्वादिप्रसङ्ग
इत्याह—नियोगपरतायां चेति । फलितमाह—अतश्चेति । इदानीं प्रौढवादेन
नियोगम् अङ्गीकृत्य तदेकत्वं खण्डयति—अभ्युपगम्यमानेऽपीति । भिन्नक्रियावाचि-
शब्दः शब्दान्तरं यथा यजति ददातीति, तथेहापि वेद उपासीतेति शब्दभेदः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थके भेदसे वाक्यभेद और विरुद्धार्थत्व होनेसे अप्रामाण्य है, ऐसा दूषित करते हैं—“अथ”
इत्यादिसे । किञ्च, ब्रह्म तो श्रुतिप्रतिपादित है, परन्तु विधि श्रुत नहीं है, यदि वेदान्तमें उसकी
कल्पना की जाय, तो कर्मजन्य होनेसे मोक्ष अनित्य और सातिशय हो जायगा, ऐसा
कहते हैं—“नियोगपरतायाश्च” इत्यादिसे । फलित कहते हैं—“अतश्च” इत्यादिसे । अब प्रौढवादसे
नियोगका अङ्गीकार करके उसके एकत्वका खण्डन करते हैं—“अभ्युपगम्यमानेऽपि” इत्यादिसे ।
शब्दान्तर वह होता है जो भिन्न क्रियाका वाचक हो, जैसे यजति, ददाति, इत्यादि वैसे प्रकृतमें

भाष्य

नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम् । प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकारांशेनाभेदाद् युक्तमेकत्वम् । न त्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति । नहि भारूपत्वा-

भाष्यका अनुवाद

उपदेशोंमें एक ही नियोग है, यह असिद्ध है, क्योंकि अन्य शब्द आदि प्रमाणोंसे नियोगका भेदज्ञान होनेपर भी सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रय नहीं किया जा सकता है, प्रयाज और दर्शपूर्णमास वाक्योंमें तो अधिकाररूप अंशमें अभेद होनेसे एकत्व युक्त है । परन्तु यहां सगुण और निर्गुणके विधिवाक्योंमें कोई

रत्नप्रभा

निर्गुणसगुणरूपभेदः, प्रकरणभेदः, मुक्त्यभ्युदयफलभेदः, इत्येतैः प्रमाणैर्निर्गुण-ज्ञानसगुणोपासनाविषयकनियोगभेद इत्यर्थः । कथं तर्हि अङ्गाङ्गिवाक्येषु नियोगैक्यम् ? तत्राह—प्रयाजेति । एकस्यैव स्वर्गकामस्य साङ्गप्रधानाधिकारात् तत्साध्यफलापूर्वैक्यात् एकवाक्यता इत्यर्थः । इहापि निर्गुणसगुणविद्ययोः एकाधिकारात् नियोगैक्यमस्तु, नेत्याह—न त्विहेति । मुक्त्यभ्युदयार्थभेदात् मिथो विरुद्धार्थविद्ययोः अङ्गाङ्गित्वयोगाच्च न नियोगैक्यम् । न च निर्गुणविद्यानियोग एक एव सगुणविद्यानङ्गीकारादिति वाच्यम् । अहो विपरीतं पाण्डित्यमायुष्मतः, विध्ययोग्यविद्यायां विधिर्योग्यायामविभिरिति । तस्मात् साकारवाक्यानाम् आकारलयद्वारा निर्गुणवाक्यैकवाक्य-

रत्नप्रभाका अनुवाद

वेद और उपासीत, इस प्रकार शब्दका भेद होगा, निर्गुण और सगुण रूपका भेद, प्रकरणभेद, मुक्ति और अभ्युदयरूप फलभेद, इत्यादि प्रमाणोंसे निर्गुण ज्ञान और सगुण उपासनाविषयक नियोगका भेद होगा ऐसा अर्थ है । तो अङ्गवाक्य और अङ्गिवाक्योंमें एक नियोग कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—“प्रयाज” इत्यादिसे । स्वर्गाभिलाषी एक ही पुरुषका साङ्ग प्रधानमें अधिकार होनेसे साध्य फलपूर्वक होनेसे एकवाक्यता है, ऐसा अर्थ है । यहाँ भी निर्गुण और सगुण विद्याके एक होनेसे एक ही नियोग हो ? नहीं, ऐसा कहते हैं—“न त्विह” इत्यादिसे । मुक्त्यर्थी और अभ्युदयार्थीके पृथक् होनेसे परस्पर विरुद्ध प्रयोजनवाली विद्याका अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता है, अतः नियोगका अभेद नहीं है । निर्गुण विद्याका नियोग एक ही है, क्योंकि सगुण विद्याका स्वीकार नहीं है, ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो, उससे कहिए कि बाहरे, आपका विपरीत पाण्डित्य, क्योंकि विधिके सर्वथा अयोग्य विद्यामें विधिका स्वीकार करते हो और विधिके योग्य सगुण विद्यामें विधिका स्वीकार नहीं करते हो । इससे साकार ब्रह्म प्रतिपादक श्रुतिवाक्योंकी आकारके लयद्वारा निर्गुण वाक्योंके साथ एकवाक्यताकी

भाष्य

दयो गुणाः प्रपञ्चप्रविलयोपकारिणः, नापि प्रपञ्चप्रविलयो भारूपत्वादि-
गुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात् । नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैक-
देशापेक्षणम् चैकस्मिन् धर्मेणि युक्तं समावेशयितुम् । तस्मादस्मदुक्त एव
विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति ॥ २१ ॥

भाष्यका अनुवाद

एकत्व प्रतिपादन करनेवाला अधिकारांश नहीं है, क्योंकि भारूपत्व आदि गुण
प्रपञ्चके प्रविलय करनेमें उपकारी नहीं है, उसी प्रकार प्रपञ्चका प्रविलय
भारूपत्व आदि गुणोंका उपकारी नहीं है, क्योंकि वे परस्पर विरोधी हैं । एक ही
धर्मेमें सकल प्रपञ्चका प्रविलय और प्रपञ्चके एक देशकी अपेक्षा इन दोनोंका
समावेश नहीं किया जा सकता है । इससे सिद्ध हुआ कि साकार और अनाकार
ब्रह्मका उपदेश करनेवाले वाक्योंका हमसे कहा गया विभाग ही अधिक
श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

रत्नप्रभा

तागतिः असद्गतिरेव, किन्तु तेषां कल्पिताकारो गतिस्तदुपासनयाभ्युदयसिद्धेः ।
निर्गुणवाक्यानां तु परमार्थालम्बनत्वमित्यस्मदुक्त एव विभागः साधीयान् इत्युपसंह-
रति—तस्मादिति ॥ २१ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अवगति असद्गति है, किन्तु उसका तात्पर्य कल्पित आकारमें है और उसकी उपासनासे अभ्यु-
दयकी सिद्धि होती है निर्गुण वाक्योंकी तो परमार्थ वस्तुके अवलम्बनमें गति है, ऐसा हमारा कहा
हुआ विभाग ही सर्वश्रेष्ठ है, इस प्रकार उपसंहार करते हैं—“तस्मात्” इत्यादिसे ॥ २१ ॥



[६ प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण सू० २२-३०]

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि ।

द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि ॥१॥

वीप्सेयमिति शब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये ।

अनिदं सत्यसत्यञ्च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः* ॥२॥

[अधिकरणसार]

सन्देह—‘नेति नेति’ इस वाक्यसे ब्रह्मका भी निषेध होता है अथवा नहीं होता है ?

पूर्वपक्ष—‘नेति नेति’ इस प्रकार द्विरुक्ति होनेसे ब्रह्म और जगत् दोनोंका निषेध होता है ।

सिद्धान्त—सब दृश्योंके निषेधके लिए यह इति शब्दसे कथित वीप्सा अर्थात् दो बार कथन है, इसलिए इदंशब्दके लिए अयोग्य सत्यका भी सत्य अवधिरूप एक ब्रह्म अवशिष्ट रहता है, अर्थात् उसका ‘नेति’ इत्यादिसे निषेध नहीं होता है ।

* इस अधिकरणमें यह तत्त्व है—‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चेवामूर्तं च’ इस ब्राह्मणमें बड़े विस्तृत प्रबन्धसे पृथिव्यादिरूप मूर्तस्वरूप और वाय्वाकाशरूप अमूर्तस्वरूपका विचारकर अनन्तर ब्रह्मके उपदेशके लिए यह कहा गया है ‘अथात आदेशो नेति नेति’ इत्यादि । इस श्रुतिका अर्थ यों है—दो रूपोंके कथनके बाद रूपरहित ब्रह्मके वक्तव्य कोटिमें पतित होनेसे ‘नेति नेति’ यह ब्रह्मोपदेश है । इसमें पूर्वपक्षकर्ता यह कहता है कि प्रथम नेतिशब्दसे यदि एक ही जगत्का निषेध किया जाय, तो द्वितीय नेतिशब्द अनिरर्थक हो जायगा, इसलिए द्वितीय नेतिशब्दसे ब्रह्मका भी निषेध होता है । इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं—द्वितीय निषेध व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उसका प्रयोजन वीप्सा है, वीप्साके होनेपर जो दृश्य है और इतिशब्दनिर्देशाहं है, वह सब ‘ब्रह्म नहीं हो सकता है’ इस प्रकार निषिद्ध होगा । यदि वीप्सा नहीं होगी तो एक नकारसे प्रकृतसे प्राप्त इतिशब्दसे निर्दिष्ट मूर्त और अमूर्तका निषेध होगा और मूर्ताद्यभाव तथा मूलाविद्याका निषेध नहीं होगा, एवञ्च उन दोनोंमें (मूर्ताद्यभाव और मूलाविद्यामें) ब्रह्मत्व प्रसक्त होगा । वीप्साके निरङ्कुश होनेसे ब्रह्मका निषेध क्यों न करे ! यदि इस प्रकार कोई दोषका उद्भावन करे, तो कहो कि उसका निषेध कथमापि नहीं कर सकते, क्योंकि ब्रह्म इतिशब्दके लिए योग्य नहीं है, और ‘अथात आदेशो०’ इत्यादिसे बड़े समारोहसे ब्रह्मके उपदेशकी प्रतिष्ठाकर श्रुति यदि उसी ब्रह्मका निषेध करे, तो अपने ही स्वार्थका विनाश करेगी, इसी तरह ब्रह्मका निषेध करनेपर वाक्यशेष भी असङ्गत होगा, कारण कि वाक्यशेषमें ‘अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्’ इत्यादिसे विवक्षित ब्रह्मके गिरि, नदी आदि लौकिक सत्यकी अपेक्षासे आत्यन्तिक अधिक सत्यका सूचन करनेके लिए नामका निर्देश किया गया है । सबका निषेध माननेपर यह सब कदर्थित होगा, अतः ब्रह्मका ‘नेति’ इत्यादिसे निषेध नहीं होता है ।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

पदच्छेद—प्रकृतैतावत्त्वम्, हि, प्रतिषेधति, ततो, ब्रवीति, च, भूयः ।

पदार्थोक्ति—प्रकृतैतावत्त्वम्—प्रकृते प्रधानतया उपन्यस्तं यत् इयत्तापरिच्छिन्नं ब्रह्मणो रूपद्वयं [तदेव] प्रतिषेधति—निषेधति ['नेति नेति' इत्यादि-श्रुतिः, इतिशब्दस्य प्रधानत्वेन प्रकृतपरामर्शित्वात्, ब्रह्मणश्च न प्रधानत्वेन प्रकृत-त्वम्, 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' इति रूपद्वयात्मकजगदुपसर्जनेत्वेनैव तस्याभिहितत्वात्, इतश्च ब्रह्मणो न निषेधः] हि—यस्मात् ततः—प्रपञ्चनिषेधानन्तरम् भूयः—पुनः 'नद्येतस्मात्' इत्यादिनिर्वचनवाक्यं ब्रह्म ब्रवीति, यद्वा प्रपञ्चनिषेधानन्तरम् 'अथ नामधेयम्' इत्यादिवाक्यम् ब्रह्म ब्रवीति, [न च प्रपञ्चस्य निषेधे प्रत्यक्षविरोधः, तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यादित्यनवद्यम्] ।

भाषार्थ—'नेति नेति' इत्यादि श्रुति प्रकृतमें प्रधानतया उपन्यस्त ब्रह्मके मूर्त और अमूर्तरूप दो रूपोंका ही निषेध करती है, क्योंकि इति शब्द प्रधानरूपसे प्रकृतका परामर्श करता है । वे ही प्रधानतया प्रकृत हैं, ब्रह्म प्रधानतया प्रकृत नहीं हैं, परन्तु रूपद्वयात्मकजगत्के उपसर्जन-रूपसे निर्दिष्ट है, अतः उसका निषेध नहीं होता है, और प्रपञ्च निषेधके पीछे भी 'न ह्येतस्मात्' इत्यादिनिर्वचनवाक्य ब्रह्मको कहता है अथवा 'अथ नामधेयम्' इत्यादिवाक्य ब्रह्मको कहता है, अतः उसका निषेध नहीं है, यह निर्विवाद है । प्रत्यक्ष विरोध होनेसे प्रपञ्चका निषेध नहीं है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें व्यावहारिक प्रामाण्य है, अतः दोष नहीं है ।

भाष्य

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' मर्त्यं चामर्त्यं च स्थितं च यच्च त्यच्च (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराशयेन प्रवि-
भाष्यका अनुवाद

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तम्' (ब्रह्मके दो ही रूप हैं, मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत) ऐसा उपक्रम करके पांच महाभूतोंका दो राशिसे

रत्नप्रभा

ब्रह्मणो निर्विशेषचिन्मात्रत्वमुक्त्वा सर्वनिषेधावधित्वेन सद्रूपत्वमाह—प्रकृतै-
तावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय इति । पृथिव्यसेजोभूतत्रयं मूर्तम्,
रत्नप्रभाका अनुवाद

ब्रह्मका निर्विशेष चिन्मात्र स्वरूप कहकर सब निषेधोंकी अवधिरूपसे सद्रूपत्व कहते हैं—
“प्रकृतैतावत्त्वम्” इत्यादि । पृथिवी, जल और तेज ये तीन भूत मूर्त हैं, वायु और आकाश

भाष्य

भज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—‘अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति’ (वृ० २।३।६) इति । तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे । नह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किञ्चित् प्रतिषेध्यमुपलभ्यते । इतिशब्देन तत्र

भाष्यका अनुवाद

विभागकर पुरुषशब्दसे उक्त अमूर्तसारके माहारजन आदि रूप दिखलाकर श्रुतिमें पुनः कहा गया है—‘अथात आदेशो नेति नेति०’ (सत्य और त्यत् स्वरूपके निर्देशके अनन्तर इससे—उक्त आरोपके निषेधार्थक होनेसे नहीं, नहीं, ऐसा ब्रह्मका निर्देश है, इस आत्मासे अन्य नहीं है, इससे ‘न’ कहते हैं, किन्तु परब्रह्म है) । यहांपर इस प्रतिषेधसे किसका निषेध किया जाता है ? यह हम जानना चाहते हैं, क्योंकि

रत्नप्रभा

वाय्वाकाशद्वयममूर्तमिति राशिद्वयमुक्त्वा भूतद्वयस्यामूर्तस्य सारः—‘करणात्मा हिरण्यगर्भो य एष एतस्मिन् सूर्यमण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षिणि पुरुषः’ इत्युक्तः । तस्य वासनामयानि स्वप्नरूपाणि ‘तद्यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वादिकं यथेन्द्रगोपः’ (वृ० २।३।६) इत्युपमाभिरुक्तानि विचित्राणि । तत्र महाराजनम्—हरिद्रा, तथा क्लृप्तं वस्त्रं माहारजनम् । पाण्ड्वादिकमिति धवलं कम्बलादि । केचित्तु श्रुतिमुपलक्षणं कृत्वा सूक्ष्मपञ्चभूतान्यमूर्तानि, पञ्चीकृतानि मूर्तानि, ततश्चामूर्तरस-त्वोक्त्या करणानां पाञ्चभौतिकत्वसिद्धिरिति व्याचक्षते । अथ—सत्यत्पदात्मक-प्रपञ्चोक्त्यनन्तरम्, अतः—उक्तारोपस्य निषेधार्थत्वात्, नेति नेतीति निषेधेनोपदेशः क्रियते इत्यर्थः । नेतिशब्दार्थमाह—नहीति । एतस्मादात्मनोऽन्यन्नास्तीति नेती-

रत्नप्रभाका अनुवाद

ये अमूर्त हैं । इस प्रकार दो राशियोंको कहकर दो अमूर्त भूतोंका सार—‘करणात्मा हिरण्यगर्भो य एष०’ (इस सूर्यमण्डलमें जो यह इन्द्रियस्वरूप हिरण्यगर्भ पुरुष है और दक्षिण नेत्रमें जो यह पुरुष है) इस प्रकार पुरुषरूपसे कहा गया है । उसके वासनामय, विचित्र स्वरूप ‘तद् यथा माहारजनं०’ ऐसी उपमाओंसे कहे गये हैं । उसमें महाराजन अर्थात् हरिद्रा, उससे रंगा गया वस्त्र माहारजन कहलाता है । अवि अर्थात् भेड़ी, उसका आविक—ऊर्ण—ऊन आदि, जो पाण्डुर—धवल होता है, ऐसा सफेद कम्बल आदि—पाण्ड्वाविक है । कोई लोग श्रुतिको उपलक्षण मानकर सूक्ष्म पांच भूत अमूर्त हैं और पञ्चीकृत पांच भूत मूर्त हैं । इससे अमूर्तोंके रस कहनेसे करणोंमें पाञ्चभौतिकत्वकी सिद्धि होती है ऐसा व्याख्यान करते हैं । अथ—सत् त्यदात्मककी उक्तिके अनन्तर । अतः—उक्त आरोपके निषेधार्थक होनेसे । ‘नेति’ ‘नेति’ इस प्रकार निषेधसे उपदेश किया जाता है, यह अभिप्राय है । ‘नेति’ शब्दका

भाष्य

प्रतिषेधं किमपि समर्प्यते नेति नेतीतिपरत्वाभ्युपयोगस्य । इति-
शब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते 'इति ह
स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु । संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूप-
द्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणः, तच्च ब्रह्म यस्यैते द्वे रूपे । तत्र नः संशय उपजायते—
किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधति, आहोस्विदेकतरम् । यदाप्ये-
कतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति, रूपे परिशिनष्टि; आहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति,
ब्रह्म परिशिनष्टीति । तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे । द्वौ

भाष्यका अनुवाद

यहांपर 'यह' वह है, ऐसा विशेषित कोई निषेध उपलब्ध नहीं होता है । इति-
शब्द तो यहां किसी एक प्रतिषेधका समर्पण करता है, क्योंकि 'नेति' 'नेति'
इसमें 'नच्' (न) के प्रयोगके पीछे 'इति' शब्द है, और सन्निहितका अवलम्बन
करनेवाला यह 'इति' शब्द 'एवं' शब्दका तुल्यार्थक प्रयुक्त हुआ दोखता है—'इति
ह स्मोपाध्यायः कथयति' (ऐसा उपाध्यायने कहा) इत्यादिमें । और यहां सन्निहित
तो प्रकरणके सामर्थ्यसे ब्रह्मके प्रपञ्चयुक्त दो रूप हैं और जिसके ये दो रूप
हैं, वह ब्रह्म है । यहां पर हमको संशय होता है कि क्या वह प्रतिषेध दो रूपों
और रूपवत् इन दोनोंका निषेध करता है, या दोमें से एकका ? यदि एकका
करता है, तो भी क्या ब्रह्मका निषेध करता है और दो रूपोंको अवशिष्ट
रखता है, या दो रूपोंका प्रतिषेध करता है और ब्रह्मको अवशिष्ट रखता है ?

रत्नप्रभा

त्युच्यत इत्यर्थः । शून्यतानिरासार्थं परं ब्रह्मास्तीति उक्तम् इति सिद्धान्तरीत्या श्रुत्यर्थः ।
अत्र निषेध्यविशेषानुपलम्भात् संशयमाह—तत्र कोऽस्येत्यादिना । नञ्प्रयोगस्य नकार-
स्येतिशब्दोपस्थापितवस्तुनिषेधकत्वात् इत्यर्थः । इतिशब्दात् निषेध्यसामान्यसम-
र्पणे विशेषाकाङ्क्षायां प्रकरणाद्रूपद्वयस्य रूपिब्रह्मणश्च निषेध्यत्वभानात् संशयमुक्त्वा

रत्नप्रभाका अनुवाद

अर्थ कहते हैं—“नहि” इत्यादिसे । इस आत्मासे अन्य नहीं है, ऐसा 'नेति' से कहा जाता है,
ऐसा अर्थ है । शून्यताका निरास करनेके लिए 'परं ब्रह्मास्ति' (पर ब्रह्म है) ऐसा कहा है,
यह सिद्धान्तरीतिसे श्रुतिका अर्थ है । यहाँ निषेध्यविशेषकी उपलब्धि न होनेसे संशय कहते
हैं—“तत्र कोऽस्य” इत्यादिसे । 'नञ्' का प्रयोग जो नकार उसके इतिशब्दसे उपस्थापित
वस्तुका निषेधक होनेसे, ऐसा अर्थ है । इति शब्द निषेध्य सामान्यका बोध कराता है, इससे

भाष्य

चैतौ प्रतिषेधौ द्विनैतिशब्दप्रयोगात् । तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यतेऽपरेण रूपवद् ब्रह्मेति भवति मतिः । अथवा ब्रह्मैव रूपवत् प्रतिषिध्यते, तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्, न तु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वात् प्रतिषेधार्हः । अभ्यासस्त्वादरार्थ इति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात् ।

भाष्यका अनुवाद

पूर्वपक्षी—प्रकृतत्वके समान होनेसे दोनोंका प्रतिषेध करता है, ऐसी हम आशंका करते हैं । ये दो प्रतिषेध हैं, क्योंकि 'नेति' शब्दका दो बार प्रयोग है । इन दो शब्दोंमें से एकसे सप्रपञ्च ब्रह्मके रूपका प्रतिषेध होता है, और दूसरेसे रूपवद् ब्रह्मका प्रतिषेध होता है, इस प्रकार मति हो सकती है । अथवा रूपवद् ब्रह्मका ही प्रतिषेध होता है, क्योंकि वाणी और मनसे अतिक्रान्त होनेसे उसका सद्भाव—अस्तित्व नहीं हो सकता । अतः प्रतिषेधके योग्य है । किन्तु रूपप्रपञ्च प्रत्यक्ष आवि प्रमाणोंका विषय होनेसे प्रतिषेधके योग्य नहीं है, अभ्यास तो आदरके लिए है ।

सिद्धान्ती—ऐसा प्राप्त होनेपर हम कहते हैं—दोनोंका प्रतिषेध उपपन्न नहीं

रत्नप्रभा

पूर्वोक्तं निर्विशेषं ब्रह्म नास्तीत्याक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षयति—तत्र प्रकृतत्वेति । पूर्वपक्षे तत्पदार्थाभावाद् वाक्यार्थभेदासिद्धिः, सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति फलम् । निरधिष्ठाननिषेधादर्शनात् सर्वनिषेधो न युक्त इत्यरुच्या प्रपञ्चे ब्रह्मनिषेधः इत्याह—अथवेति । एकब्रह्मण एव निषेधे नकारद्वयस्य पौनरुक्त्यम् इत्यत आह—अभ्यासस्त्विति ।

उत्सूत्रमेव तावत् सिद्धान्तमुपक्रमते—एवमिति । शून्यप्रसङ्ग इष्ट इति

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेषकी आकांक्षा होनेपर प्रकरणसे रूपद्वय और रूपी ब्रह्म दोनों निषेध्य हैं, ऐसा भान होनेसे संशय कहकर पूर्वोक्त निर्विशेष ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार आक्षेप संगतिसे पूर्वपक्ष करते हैं—“तत्र प्रकृतत्वं” इत्यादिसे । पूर्वपक्षमें ‘तत्त्वमसि’ इस वाक्यमें तत्पदार्थके अभावसे वाक्यार्थके अभेदकी असिद्धि फल है और सिद्धान्तमें उसकी सिद्धि फल है । निरधिष्ठान निषेध नहीं देखा जाता, इससे सबका निषेध युक्त नहीं है, इस अरुचिसे प्रपञ्चमें ब्रह्मका निषेध है, ऐसा कहते हैं—“अथवा” इत्यादिसे । एक ब्रह्मका ही निषेध हो, तो दो नकारोंकी पुनरुक्ति होगी, इसपर कहते हैं—“अभ्यासस्तु” इत्यादिसे । सूत्रके बाहर ही सिद्धान्तका उपक्रम करते हैं—“एवम्” इत्यादिसे ।

भाष्य

कंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते, यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः । तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्पते । कृत्स्नप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत । अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन् य इतरः प्रतिषेध्दुमारभ्यते प्रतिषेध्दुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः । नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात् । 'असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१)

भाष्यका अनुवाद

होता, क्योंकि शून्यवादका प्रसंग आवेगा, क्योंकि किसी एक परमार्थके आधार-पर अपरमार्थका प्रतिषेध होता है । जैसे रज्जु आदिमें सर्प आदिका । यदि कोई एक भाव परिशिष्ट रहता हो, तो वह संभावित है । परन्तु सबका प्रतिषेध करने-पर कौन अन्य पदार्थ अवशिष्ट रहेगा ? अन्य भावके अवशिष्ट न रहनेसे जिस अन्य भावके प्रतिषेधका आरम्भ किया जाता है, उसका प्रतिषेध न हो सकनेसे, उसीके परमार्थ होनेका प्रसंग आनेसे प्रतिषेध अनुपपन्न होता है । और ब्रह्मका प्रतिषेध भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (मैं तुमसे ब्रह्म कहूँ) इत्यादि उपक्रमका विरोध होता है, 'असन्नेव स भवति' (ब्रह्म अविद्यमान है, ऐसा जो जानता है वह स्वयं अविद्यमान ही हो जाता है) ऐसी निन्दासे विरोध

रत्नप्रभा

वदन्तं प्रत्याह—कंचिद्धीति । तच्चेति । प्रतिषेधनमित्यर्थः । अधिष्ठानानवशेषे तत्प्रमारूपहेत्वभावात् निषेधवाक्यार्थप्रमा न स्यात् । इदमत्र नास्तीति लोके निषेधस्य साधिष्ठानस्यैव प्रमितिदर्शनादित्यर्थः । किं च यद्भाति तत्सदित्युत्सर्गस्य भानार्थाभावाधिष्ठानप्रमितिः अपवादः । तथा पूर्वभानस्य भ्रमत्वनिश्चयेनार्थसत्त्वापलापात् । अपवादानङ्गीकारे तूत्सर्गतः प्रपञ्चस्य सत्यत्वापत्तेः निषेधानुपपत्तिरित्याह—अपरि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

शून्यका प्रसङ्ग होना इष्ट है, ऐसा कहनेवालेके प्रति कहते हैं—“कंचिद्धि” इत्यादिसे । तच्च—अर्थात् निषेध, यह अर्थ है । अधिष्ठानका अवशेष न हो, तो प्रमारूपके हेतु न होनेसे निषेध वाक्यार्थ प्रमा नहीं होगा, क्योंकि 'इदमत्र नास्ति' (यहाँ यह नहीं है) ऐसी लोकमें अधिष्ठान युक्त निषेधकी ही प्रमिति देखी जाती है, ऐसा अर्थ है । और जिसका भान होता है—जो दिखाई देता है, वह सत् है, इस उत्सर्गका अपवाद भानका विषय जो पदार्थ है उसके अभावके अधिष्ठानमें प्रमिति है । इस प्रमितिसे पूर्वभान भ्रम है, ऐसा निश्चय होनेसे अर्थके सत्त्वका निषेध होता है । यदि अपवादका अंगीकार न करें, तो उत्सर्गसे प्रपञ्चके सत्य

भाष्य

इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१३) इत्याद्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च । वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते, नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदामोति परम्' (तै० २।१।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलष्येत । 'प्रक्षालानाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः । प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इति । एतदुक्तं भवति—

भाष्यका अनुवाद

होता है और 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' ('है' इसी प्रकार उसकी उपलब्धि करनी चाहिए) इस अवधारणका विरोध होता है, और सब वेदान्तोंके विरोधका प्रसंग आता है । और ब्रह्म वाणी और मनका अविषय है, यह ब्रह्मके अभावके अभिप्रायसे नहीं कहा जाता है, क्योंकि 'ब्रह्मविदामोति परम्' (ब्रह्मको जाननेवाला पर पदको प्राप्त करता है), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है) इत्यादि वाक्योंसे वेदान्तोंमें बड़े प्रयत्नसे ब्रह्मका प्रतिपादन करके फिर उसीका अभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'प्रक्षालानाद्धि पङ्क्तस्य०' (कीचड़को अंगमें लगाकर धोनेकी अपेक्षा उससे दूर रहना, उसका स्पर्श नहीं करना अधिक श्रेष्ठ है) ऐसा न्याय है । 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते' (जहांसे मनके साथ वाणी पहुँचे बिना

रत्नप्रभा

शिष्यमाणे चेति । अधिष्ठानसत्त्वं विना भ्रान्तिनिषेधयोः अयोगात् शून्यवादो न युक्त इत्युक्त्वा पूर्ववादिनः पक्षान्तरं दृषयति—नापीति । देहात्माभिमानवल्लौकिकमानप्राप्तद्वैतस्य निषेधो युक्तः, न वेदान्तप्रमितब्रह्मण इति भावः । यदुक्तं वाङ्मनसातीतत्वात् निषेधार्हं ब्रह्मेति, तत्राह—वाङ्मनसेति । ब्रह्मणो वागाद्यतीतत्वं निषेधार्थं न चेत् किमर्थं तदुक्तिरित्यत आह—प्रतिपादनेति । उक्तार्थे सूत्रं योजयति—तदेत-

रत्नप्रभाका अनुवाद

होनेसे निषेध अनुपपन्न होगा, ऐसा कहते हैं—“अपरिशिष्यमाणे च” इत्यादिसे । अधिष्ठानसत्त्वके बिना भ्रान्ति या निषेधके युक्त न होनेसे शून्यवाद ठीक नहीं है, ऐसा कहकर पूर्ववादीके अन्य पक्षको दूषित करते हैं—“नापि” इत्यादिसे । देहात्माभिमानके समान लौकिक प्रमाणसे प्राप्त हुए द्वैतका निषेध युक्त है, और वेदान्तसे प्रमित ब्रह्मका निषेध युक्त नहीं है, ऐसा भाव है । वाणी और मनका विषय न होनेसे ब्रह्म निषेधके योग्य है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—“वाङ्मनसा” इत्यादिसे । यदि ब्रह्मका वाणी

भाष्य

वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति । तस्माद् ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तदेतदुच्यते—प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति । प्रकृतं यदेतावत्—इयत्ता-परिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति । तद्वि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन् ग्रन्थेऽधिदैवतमध्यात्मं च, तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं महारजनाद्यु-

भाष्यका अनुवाद

ही लौट आती है) यह तो (ब्रह्मका) प्रतिपादन करनेकी प्रक्रिया है । तात्पर्य इस प्रकार है—ब्रह्म वाणी और मनसे अतीत है, उसका विषयोंके मध्यमें अन्तर्भाव नहीं होता, वह प्रत्यगात्मरूप है और नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है । इसलिए श्रुति ब्रह्मके रूपप्रपञ्चका प्रतिषेध करती है और ब्रह्मका शेष रखती है, ऐसा समझना चाहिए । इसलिए कहते हैं—‘प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति’ । प्रकृत ब्रह्मके ‘एतावत्’ अर्थात् इयत्तासे परिच्छिन्न मूर्तलक्षण और अमूर्तलक्षण रूपका यह श्रुति प्रतिषेध करती है और इस प्रकृतका—अधिदैवत और अध्यात्मका—पूर्व ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णन किया गया है । और उससे उत्पन्न हुआ ही वासनालक्षण दूसरा रूप है, जो अमूर्तका सारभूत है और पुरुषशब्दसे कहा गया है लिङ्ग आत्मामें रहनेवाला है और महार-

रत्नप्रभा

दित्यादिना । ‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे’ इति रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन प्रकृतत्वान्नेतीति निषेध इत्यर्थः । ननु आदित्यमण्डले पुरुष इति ब्रह्मापि अत्र प्राधान्येन उक्तमित्याशङ्क्य पुरुषो लिङ्गात्मा, अमूर्तरसत्वश्रुत्या भूतजनितत्वभानात्, स्वप्नरूपवत्त्वश्रुतेः श्वेत्याह—तज्जनितमेवेति । रूपरूपिणोः अमेद उक्तः । ननु वासनामयं रूपमेव

रत्नप्रभाका अनुवाद

आदिका अविषय होना निषेधके लिए नहीं है, तो किसके लिए उसका कथन है, इसपर कहते हैं,—“प्रतिपादन” इत्यादिसे । उक्त अर्थमें सूत्रकी योजना करते हैं—“तदेतत्” इत्यादिसे । ‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे’ (ब्रह्मके दो ही रूप हैं) इस प्रकार दो रूपोंके ही प्रधानतासे प्रकृत होनेसे ‘नेति’ ऐसा निषेध है, यह अर्थ है । परन्तु ‘आदित्यमण्डले पुरुषः’ (आदित्यमण्डलमें पुरुष है) इस प्रकार ब्रह्म भी यहां प्रधानरूपसे कहा गया है, ऐसी आशंका करके, ‘पुरुष’ लिङ्गात्मा है, क्योंकि अमूर्तरसत्वश्रुतिसे वह भूतजनित है, ऐसा उसका भान होता है, और स्वरूपत्व श्रुति है, ऐसा कहते हैं—“तज्जनितमेव” इत्यादिसे । रूप और रूपीका

भाष्य

पमाभिर्दर्शितम् । अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः । तदेतत् सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं संनिहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकं नञं प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन् ग्रन्थे, न स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चिते च तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति । तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते । तदास्पदं

भाष्यका अनुवाद

जन आदि उपमाओंसे दिखलाया गया है, क्योंकि अमूर्चका सारभूत जो पुरुष है उसका चक्षुसे ग्राह्य रूपसे सम्बन्ध नहीं हो सकता । वह इस सप्रपञ्च ब्रह्मरूप सन्निहितके आलम्बन इतिकरणसे प्रतिषेधक नञ् (न) के पास लाता है, ऐसा समझा जाता है । पूर्व ग्रन्थमें ब्रह्म तो रूपके विशेषणरूपसे षष्ठीसे निर्दिष्ट है, स्वप्रधानरूपसे निर्दिष्ट नहीं है । और उसके दो रूपोंका प्रपञ्च होनेपर रूपवान्के स्वरूपकी जिज्ञासा होनेपर 'अथात आदेशो नेति नेति' (अनन्तर इससे 'नहीं, 'नहीं' ऐसा निर्देश है) ऐसा उपक्रम किया है । यहांपर ब्रह्मके कल्पित रूपका प्रत्याख्यान करके स्वरूपका यह आवेदन है, ऐसा निर्णय

रत्नप्रभा

किम् इत्युपमीयते, प्रसिद्धरूपमेव किं न स्यादित्यत आह — अमूर्तरसस्येति । रूपद्वयस्यैव प्राधान्येन प्रकृतत्वे फलितमाह — तदिति । प्रतियोगित्वेन समर्प्यत इत्यर्थः । न चार्थतः प्राधान्याद् ब्रह्मणो निषेधः, राज्ञो भृत्यो नास्तीत्यत्र राजनिषेधप्रसङ्गादिति भावः । किञ्चात्र ब्रह्मणः प्रतिपाद्यत्वात् न निषेध इत्याह — प्रपञ्चिते चेति । ननु ब्रह्मणि निषिद्धस्याप्यन्यत्र स्थितिसम्भवात् कथं कल्पितत्वमित्यत आह — तदास्पदमिति । उपादाने निषिद्धस्यान्यत्र न स्थितिरित्यर्थः । यत्तु द्वैतनिषेधे

रत्नप्रभाका अनुवाद

अभेद कहा गया है, तो वासनारूपकी ही क्यों उपमा होती है, प्रसिद्धरूपकी क्यों नहीं होती, इसपर कहते हैं—“अमूर्तरसस्य” इत्यादिसे । दोनों रूपोंके ही प्राधान्यरूपसे प्रकृत होनेके कारण फलित कहते हैं—“तद्” इत्यादिसे । प्रतियोगी रूपसे बोध कराता है, ऐसा अर्थ है । अर्थतः प्राधान्य होनेसे ब्रह्मका निषेध नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'राजाका सेवक नहीं है' यहांपर राजाके निषेध होनेका प्रसङ्ग आवेगा, यह भाव है । और यहांपर ब्रह्मके प्रतिपाद्य होनेसे उसका निषेध नहीं है, ऐसा कहते हैं—“प्रपञ्चिते च” इत्यादिसे । यद्यपि ब्रह्ममें निषिद्ध है, फिर भी अन्यत्र उसकी स्थितिका संभव होनेसे कल्पितत्व किस प्रकार

भाष्य

हीदं समस्तकार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम् । युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भण-
शब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं न तु ब्रह्मणः, सर्वकल्पना-
मूलत्वात् । न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो
रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—‘प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पर्-
शनं वरम्’ इति, यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति,
लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्ध-

भाष्यका अनुवाद

होता है, क्योंकि तद्विषयक इस समस्त कार्यका ‘नेति’ ‘नेति’ इस प्रकार प्रतिषेध
किया है । और वाचारम्भण०’ (वाणी ही जिसकी आरम्भक है), आदि
शब्दोंसे कार्यकी असत्ता उचित है, अतः उसका प्रतिषेध हो सकता है, परन्तु
ब्रह्मका प्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब कल्पनाओंका मूल है ।
और शास्त्र ही ब्रह्मके दो रूप दिखलाकर आप ही पीछे उनका प्रतिषेध कैसे
करता है, क्योंकि ‘प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य०’ (कीचड़को शरीरमें लगाकर धोनेकी अपेक्षा
उससे दूर रहना—उसका स्पर्श न करना ही अधिक श्रेष्ठ है) यहांपर ऐसी शंका
नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह शास्त्र ब्रह्मके दो रूपोंका प्रतिपाद्यरूपसे निर्देश
नहीं करता, किन्तु लोकप्रसिद्ध जो ये दो रूप ब्रह्ममें कल्पित हैं उनका

रत्नप्रभा

प्रत्यक्षादिविरोध इति, तत्राह—युक्तं चेति । स्थापितं हि आरम्भणाधिकरणे
प्रत्यक्षादेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, न तत्त्वावेदकमिति, अतस्तत्त्वतो निषेधान्न
विरोध इति भावः । ननु वस्तुत्वाद् द्वैतवद् ब्रह्मणोऽपि निषेधोऽस्तु, नेत्याह—न
त्विति । द्वैतभावाभावसाक्षित्वादशक्यो निषेध इत्यर्थः । न चेत्यादि स्पष्टार्थम् ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

है, इसपर कहते हैं—“तदास्पदम्” इत्यादिसे । उपादानमें जिसका निषेध हुआ है उसकी
अन्यत्र स्थिति नहीं है, ऐसा भाव है । परन्तु द्वैतका निषेध करनेपर प्रत्यक्ष आदिका विरोध
होता है, ऐसा जो कहा गया है उसपर कहते हैं—“युक्तं च” इत्यादिसे । आरम्भाधिकरणमें
प्रत्यक्ष आदिका व्यावहारिक प्रामाण्य स्थापित किया गया है, परन्तु वह तत्त्वका आवेदन
करनेवाला नहीं है, इसलिए तत्त्वतः निषेध करनेमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा भाव है । यदि
कोई कहे कि द्वैतके समान ब्रह्म भी वस्तु है अतः ब्रह्मका भी निषेध हो, उस शंकाका
निराकरण करते हैं—“न तु” इत्यादिसे । द्वैतभावके अभावका साक्षी होनेसे ब्रह्मका निषेध

भाष्य

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम् । द्वौ चेतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः । यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधत्युत्तरो वासनाराशिम् प्रतिषेधति । अथवा 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः । परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नैतद् ब्रह्म किमन्यद् ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात् । वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषेध है, ऐसा दिखलानेके लिए और शुद्ध ब्रह्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए परामर्श करता है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है । और ये दो प्रतिषेध यथासंख्यन्यायसे दो मूर्त्त और अमूर्त्त रूपोंका प्रतिषेध करते हैं अथवा पूर्व-प्रतिषेध भूतराशिका प्रतिषेध करता है और उत्तरप्रतिषेध वासनाराशिका प्रतिषेध करता है । अथवा 'नेति' 'नेति' यह वीप्सा है, अतः जिस किसीकी उत्प्रेक्षा की जा सकती है । वह सब ब्रह्म नहीं है, ऐसा अर्थ है, क्योंकि परिगणितका प्रतिषेध करनेपर यदि यह ब्रह्म नहीं है, तो क्या अन्य ब्रह्म है, ऐसी जिज्ञासा होगी । और वीप्सा होनेपर तो समस्त विषय-समूहका प्रतिषेध होनेसे अविषय प्रत्यगात्मा ब्रह्म है, ऐसा बोध होनेपर

रत्नप्रभा

यच्चोक्तं निषेधाभ्यां रूपं रूपि ब्रह्म च निषिध्यते इति, तत्राह—द्वौ चैताविति । उद्देश्यविधेयार्थानां संख्यासाम्ये यथाक्रमं सम्बन्ध इति न्यायः—'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (१।२।१०) इति पाणिनिसूत्रसिद्धः, तेनात्र रूपद्वयोद्देशेन निषेधद्वय-विधिरित्यर्थः । वीप्सापक्षे सर्वदृश्यनिषेधात् जिज्ञासाशान्तिरिति विशेषमाह—परिगणितेति । मूर्त्त न अमूर्त्त न इत्येवं विशिष्य निषेधे जिज्ञासा न शाम्यतीत्यर्थः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

नहीं हो सकता है, ऐसा अर्थ है । 'न च' इत्यादि भाष्यका अर्थ स्पष्ट है । दो निषेधोंसे रूप और रूपी ब्रह्मका निषेध होता है, ऐसा जो कहा गया है, उसपर कहते हैं—“द्वौ चेतौ” इत्यादिसे । उद्देश्य और विधेय अर्थोंकी संख्या समान हो तो यथाक्रम सम्बन्ध लेना चाहिए, ऐसा न्याय 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इस पाणिनिसूत्रसे सिद्ध है, इससे प्रतीत होता है कि यहाँपर दो रूपोंके उद्देश्यसे दो निषेधोंका विधान है, ऐसा अर्थ है । वीप्सापक्षमें—'नेति नेति' इस वीप्सा पक्षमें सब दृश्यका निषेध होनेसे जिज्ञासा शान्त होती है, ऐसा विशेष है, ऐसा कहते हैं—“परिगणित” इत्यादिसे । मूर्त्त नहीं है, अमूर्त्त नहीं है, ऐसा

भाष्य

ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते । तस्मात् प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति, परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः । इतश्चैव एव निर्णयः । यतस्ततः प्रतिषेधाद् भूयो ब्रवीति 'अन्यत् परमस्ति' (बृ० २३।६) इति । अभाववसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत् परमस्तीति ब्रूयात् । तत्रैषाऽक्षरयोजना—नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति । नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः ? नह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते, न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः । तच्च दर्शयति 'अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्ति' इति । यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते—नह्येतस्मादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेध-

भाष्यका अनुवाद

जिज्ञासा निवृत्त होती है । इसलिये ये दो निषेध ब्रह्ममें कल्पित जो प्रपञ्च है उसका प्रतिषेध करते हैं, और ब्रह्मका परिशेष करते हैं, ऐसा निर्णय है । और इससे भी यही निर्णय है, क्योंकि उस प्रतिषेधसे पृथक् ब्रह्म है, ऐसा 'अन्यत् परमस्ति' यह श्रुति कहती है । निषेधका अभावमें ही पर्यवसान करनेपर तो श्रुति 'अन्यत् परमस्ति' ऐसा क्यों कहती । यहाँपर इस प्रकार अक्षरकी योजना है—'नेति' 'नेति' इस प्रकार ब्रह्मका निर्देश करके पुनः निर्वचन करती है । 'नेति' 'नेति' इसका क्या अर्थ है ? इस ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ नहीं है, अतः 'नेति' 'नेति' ऐसा कहा जाता है, ब्रह्म स्वयं ही नहीं है ऐसा अर्थ नहीं है । और वह अवशिष्ट ब्रह्म अन्यसे पर अप्रतिषिद्ध है, ऐसा दिखलाता है । यदि अक्षरोंकी ऐसी योजना की जाय कि 'नह्येतस्मादिति' 'नेति' 'नेति' ('नहीं' 'नहीं' इस निर्देशसे परब्रह्मनिर्देश नहीं है) प्रपञ्चप्रति-

रत्नप्रभा

सूत्रशेषं व्याचष्टे—इतश्चेति । प्रतिषेधानुपपत्त्या ब्रह्मास्तीत्यवगतम्, भूयः—पुनः, 'परमस्ति' इति श्रुतिः साक्षादपि ब्रवीतीत्यर्थः । तच्चेति । अवशिष्टं ब्रह्मेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ २२ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विशेष करके निषेध करनेमें जिज्ञासा शान्त नहीं होती, ऐसा अर्थ है । सूत्रशेषका व्याख्यान करते हैं—“इतश्च” इत्यादिसे । प्रतिषेधकी अनुपपत्तिसे ब्रह्म है, ऐसा ज्ञात हुआ, भूयः—पुनः 'परमस्ति' यह श्रुति 'ब्रह्म है' ऐसा साक्षात् भी कहती है, ऐसा अर्थ है । “तच्च” इत्यादि । अवशिष्ट—ब्रह्म, यह अर्थ है । शेष सब स्पष्ट है ॥२२॥

भाष्य

रूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति । तदा ततो ब्रवीति च भूय इत्येतन्नामधेयविषयं योजयितव्यम् । अथ नामधेयम्—‘सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्’ (बृ० २।१।२०) इति हि ब्रवीति इति । तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति, अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत । तस्माद् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः ॥२२॥

भाष्यका अनुवाद

रूप निर्देशसे अन्य ब्रह्मका निर्देश नहीं है, तो ‘ब्रवीति च भूयः’ इस सूत्रांशकी योजना ‘नामधेय’ इस अर्थमें करनी चाहिए । नामधेयका, निर्देश करते हैं—‘सत्यस्य सत्यमिति’ (सत्यका सत्य अर्थात् प्राण सत्य हैं और उनका यह सत्य है) ऐसा श्रुति कहती है । और वह नामधेय, यदि प्रतिषेधका ब्रह्ममें पर्यवसान हो, तो उपपन्न होता है, और यदि अभावमें प्रतिषेधका पर्यवसान हो, तो सत्यका सत्य कौन कहा जायगा । इससे इस प्रतिषेधका ब्रह्ममें पर्यवसान है, अभावमें नहीं, ऐसा हम निश्चय करते हैं ॥ २२ ॥

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

पदच्छेद—तत्, अव्यक्तम्, आह, हि ।

पदार्थोक्ति—तद् ब्रह्म अव्यक्तम्—न व्यज्यते इति अव्यक्तम् इन्द्रियग्राह्यं न [भवति] हि—यतः [‘न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा इत्यादिश्रुतिः] आह—ब्रह्मणः तादृशमव्यक्तरूपं कथयति इति ।

भाषार्थ—ब्रह्म इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि ‘न चक्षुषा गृह्यते’ इत्यादि श्रुति ब्रह्मका अव्यक्त रूप कहती है ।

(१) यद्यपि ‘सन् घटः’ इत्यादि प्रतीतिसे ब्रह्मका घटादि प्रपञ्चसम्बद्धतया भान होता है, अतः सर्वप्रपञ्चसे रहित ब्रह्म अव्यक्त है यह कहना अत्यन्त असङ्गत है, तथापि ब्रह्मका सप्रपञ्चतया भान वास्तविक नहीं है, परन्तु अविद्यादिदोषप्रयुक्त है, निष्प्रपञ्च ब्रह्मका स्वरूप अविद्यादिदोष-तमस्काण्डरहित अन्तःकरणसे ज्ञेय है, इसलिये ब्रह्म व्यक्त है तथापि अविद्यादिदोषदुष्ट पुरुषोंके लिए वह अव्यक्त है, ऐसा इस सूत्रका रहस्यार्थ है, इसी कारणसे उत्तर सूत्रमें—‘अपि च संराधने’ इत्यादिमें संराधनसमयमें उसका—ब्रह्मका रूप व्यक्त कहा गया है संराधनशब्दका अर्थ है—भक्ति और ध्यान द्वारा परमात्मामें चित्तका प्राणिधान—स्थापन, भक्ति माने महात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहाख्य अन्तःकरणकी वृत्तिविशेष, और ध्यानका अर्थ है—अवधानसे प्रत्ययकी आवृत्ति, अतः ‘काश्चिद्भिरः’ इत्यादि श्रुति शुद्धसत्त्व पुरुषको निष्प्रपञ्च ब्रह्मका व्यक्तरूप ज्ञात होता है, यह स्पष्ट रीत्या कहती है ।

भाष्य

यत्प्रतिषिद्धात् प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत् कस्मान्न गृह्यत इति । उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात् । आह हेवं श्रुतिः—‘न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा’ (मुण्ड० ३।१।८) ‘स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते’ (बृ० ३।९।२६) ‘यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्’ (मुण्ड० १।१।६) ‘यदा हेवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने’ (तै० २।७।१) इत्याद्या । स्मृतिरपि—‘अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते’ (भ० गी० २।२५) इत्याद्या ॥ २३ ॥

भाष्यका अनुवाद

प्रतिषिद्ध प्रपञ्चसमूहसे अन्य जो पर ब्रह्म है वह यदि विद्यमान है, तो उसका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता ? कहते हैं—वह अव्यक्त है, इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह सब दृश्यका साक्षी है और उस अर्थको श्रुति भी कहती है—‘न चक्षुषा गृह्यते०’ (ब्रह्मका नेत्रसे ग्रहण नहीं किया जाता, वाणीसे भी उसका ग्रहण नहीं होता है, अन्य देवोंसे—इन्द्रियोंसे वह गृहीत नहीं होता, तप या कर्मसे उसका ग्रहण नहीं होता), ‘स एष नेति०’ (वह यह ‘नहीं’ ‘नहीं’ इस प्रकार मधुकाण्डमें निर्दिष्ट आत्मा अप्राह्य है, क्योंकि उसका ग्रहण नहीं किया जाता), ‘यत्तदद्रेश्यम०’ (जो अदृश्य—सब बुद्धीन्द्रियोंसे अगम्य है, वह अप्राह्य—कर्मेन्द्रियोंका अविषय है), ‘यदा हेवैष०’ (जब यह साधक अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय, अविकार, निराधार, ब्रह्ममें आत्मभावको प्राप्त होता है तब अभय प्राप्त करता है) इत्यादि । ‘अव्यक्तोऽयम०’ (यह अव्यक्त कहलाता है, अचिन्त्य कहलाता है, यह अविकार्य कहलाता है) इत्यादि स्मृति भी ऐसा ही कहती है ॥ २३ ॥

रत्नप्रभा

ननु अप्राह्यत्वाद् ब्रह्म नास्तीति शङ्कानिरासार्थं सूत्रं व्याचष्टे—यत्प्रतिषिद्धादिति । रूपाद्यभावादव्यक्तमिन्द्रियाग्राह्यम्, न त्वसत्त्वादित्यर्थः । अन्यैर्देवैः—इन्द्रियान्तरैः न गृह्यत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

अप्राह्य होनेसे ब्रह्म नहीं है, इस शंकाका निराकरण करनेके लिए सूत्रका व्याख्यान करते हैं—“यत्प्रतिषिद्धात्” इत्यादिसे । रूपादिके अभावसे ब्रह्म अव्यक्त—इन्द्रियोंसे अप्राह्य है, असत्तासे नहीं—उसका अभाव होनेसे नहीं, ऐसा अर्थ है । अन्य देवताओंसे—अन्य इन्द्रियोंसे उसका ग्रहण नहीं किया जाता, ऐसा अन्वय है ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

पदच्छेद—अपि, च, संराधने, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

पदार्थोक्ति—अपि च, [एनं परमात्मानम्] संराधने—समाध्यवस्थायाम् [कृतार्थः कश्चन पुरुषः पश्यति, इति] प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—‘कश्चिद्धीरः’ ‘यं विनिद्रा जितश्वासाः’ इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम् [ज्ञातं भवति] ।

भाषार्थ—उक्त परमात्माको कोई धीर पुरुष समाधि दशामें जान सकता है, यह ‘कश्चिद्धीरः’ यं विनिद्रा जितश्वासाः’ इत्यादि श्रुति और स्मृति से जाना जाता है ।

भाष्य

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः । संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् । कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्—श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तथाहि श्रुतिः—

‘पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

भाष्यका अनुवाद

समस्त प्रपञ्चसे शून्य और अव्यक्त इस आत्माको योगी लोग संराधनसमयमें देखते हैं । संराधन—भक्ति, ध्यान, प्रणिधान आदिका अनुष्ठान । संराधनसमयमें योगी लोग परमात्माको देखते हैं, यह कैसे समझा जाता है ? प्रत्यक्ष और अनुमानसे—श्रुति और स्मृतिसे [जाना जाता है] ऐसा अर्थ है, क्योंकि ‘पराञ्चि खानि व्यतृणत्’ (स्वयंभूने छिद्रोपलक्षित इन्द्रियोंकी हिंसा की अर्थात्

रत्नप्रभा

अपि च संराधने । तर्हि कदा ग्राह्यम् ? इति शङ्कोत्तरं सूत्रं व्याख्याति—अपि चैनमिति । चः त्वर्थः । इन्द्रियैर्न गृह्यते, अपि तु संराधनेन शास्त्रसंस्कृतमनसेत्यर्थः । भक्तिध्यानाभ्यां प्रत्यगात्मनश्चित्ते प्रकर्षेण निधानं स्थापनम्—प्रणि-

रत्नप्रभाका अनुवाद

“अपि संराधने” । तो वह कब ग्राह्य होता है, इस शंकाके उत्तरभूत सूत्रका व्याख्यान करते हैं—“अपि चैनम्” इत्यादिसे । ‘च’ का अर्थ ‘तु’ (परन्तु) है । इन्द्रियोंसे उसका ग्रहण नहीं किया जाता, परन्तु संराधनसे—शास्त्रसंस्कृत मनसे उसका ग्रहण किया जाता है, ऐसा अर्थ है । प्रणिधान—भक्ति और ध्यानसे प्रत्यगात्माका चित्तमें विशेषरूपसे निधान—

भाष्य

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क० ४।१) इति ।
'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मु० ३।१।८)
इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—

‘यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।

ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

भाष्यका अनुवाद

अनात्मपदार्थोंमें उनका समर्पण किया, इससे जीव बाह्य अर्थको ही देखता है, अन्त-
रात्माको नहीं देखता, जिसकी नेत्रादि इन्द्रियां विषयोंसे व्यावृत्त हो गई हैं, ऐसा
अमृतको चाहनेवाला कोई विवेकी पुरुष प्रत्यगात्माको देखता है) ‘ज्ञानप्रसादेन
विशुद्धसत्त्व०’ (ज्ञानकी निर्मलतासे जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हुआ है वह
ध्यान करता हुआ सब अवयवभेदसे वर्जित आत्माको देखता है) इत्यादि श्रुतियां
हैं । वसी प्रकार ‘यं विनिद्रा जितश्वासाः०’ (निद्रारहित, श्वासको जीते हुए
मनुष्य, जिनकी इन्द्रियां संयममें हैं ध्यान करते हुए जिस ज्योतिको देखते हैं, उस

रत्नप्रभा

धानम् । जपनमस्कारादिः आदिशब्दार्थः । स्वयम्भूः—ईश्वरः । खानि—इन्द्रियाणि ।
पराञ्चि—अनात्मग्राहकाणि कृत्वा व्यतृणत्—नाशितवान् । स हि तेषां नाशः
यदसदर्थग्राहितया सर्जनम्, तस्मात् तेषां तथा सृष्टत्वात् सर्वो लोकः परागर्थमेव
पश्यति, नान्तरात्मानम् । कश्चित् धीरः—धीमान् आवृत्तचक्षुः—निरुद्धेन्द्रियः शुद्धे
चेतसि प्रत्यगात्मानं शास्त्रेण पश्यति मोक्षार्थीत्यर्थः । ततः कर्मणा विशुद्धचित्तो
ज्ञानाख्यसत्त्वोत्कर्षेण ध्यायन् तं निष्कलं पश्यतीत्यर्थः । विनिद्राः—वितमस्काः ।

रत्नप्रभाका अनुवाद

स्थापन आदिशब्दसे जप, नमस्कार आदिका ग्रहण होता है । स्वयम्भूः—ईश्वर । खानि—इन्द्रियाँ
पराञ्चि—अर्थात् ईश्वरने इन्द्रियोंको अनात्माका ग्रहण करनेवाली बनाकर उनका नाश
किया, असत् अर्थ ग्रहण करनेवाली बनाना ही इन्द्रियोंका नाश है, ऐसा समझना चाहिए । इससे—
अर्थात् इन्द्रियोंको बाह्यार्थग्राही बनानेसे सब लोग पराक्—बाह्य अर्थको ही देखते हैं, अन्त-
रात्माको नहीं देखते । परन्तु कोई धीर—धीमान् मोक्षार्थी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर
शुद्धचित्तमें प्रत्यगात्माको शास्त्रानुसार देखता है, ऐसा अर्थ है । तदनन्तर कर्मसे शुद्धचित्त होकर
ज्ञानरूप सत्त्वके उत्कर्षसे ध्यान करता हुआ सब अवयवोंसे शून्य उस ब्रह्मको देखता है ।

भाष्य

योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्' इति चैवमाद्या ॥२४॥

ननु संराध्यसंराधकभावाम्युपगमात् परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति, नेत्युच्यते—

भाष्यका अनुवाद

योगलभ्य आत्माको नमस्कार है, उस सनातन भगवान्को योगी सम्यक् रूपसे देखते हैं) इस प्रकारकी स्मृतियां भी हैं ॥ २४ ॥

परन्तु पर और अपर आत्मामें क्रमशः संराध्य और संराधकभाव माननेसे उन दोनोंमें भेद होगा, ऐसी शंका होनेपर नहीं ऐसा कहते हैं—

रत्नप्रभा

तत्र हेतुर्जितश्वासत्वम्—प्राणायामनिष्ठत्वम्, युञ्जानाः—ध्यायिनः । योगलभ्यः आत्मा—योगात्मा ॥ २४ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

विनिद्र—तमोशुण-रहित । इसमें हेतु है—जितश्वास होना अर्थात् प्राणायाममें संलग्न होना । युञ्जानाः—ध्यान करनेवाले । योगात्मा—योगसे प्राप्त होनेवाला आत्मा ॥ २४ ॥

प्रकाशादिवच्चैवैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

पदच्छेद—प्रकाशादिवत्, च, अवैशेष्यम्, प्रकाशः, च, कर्मणि, अभ्यासात् ।

पदार्थोक्ति—प्रकाशादिवत्—यथा सूर्यस्य प्रकाशोऽङ्गुल्याद्युपाधौ कर्मणि भिन्न इव प्रतिभाति, वस्तुतस्तु एकरूप एव, तद्वत्, प्रकाशः—परमात्मा च—कर्मणि—ध्यानाद्युपाधौ भिन्न इव भाति, [वस्तुतस्तु] अवैशेष्यम्—एकरूपत्वमेव तस्य । [कुतः ?] अभ्यासात्—‘तत्त्वमसि’ इत्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासात् इत्यर्थः ।

भाषार्थ—जैसे सूर्यका प्रकाश अङ्गुल्यादि उपाधिमें भिन्नसा भासता है वस्तुतः तो वह एक ही है, वैसे परमात्मा भी ध्यानादिमें भिन्नसा भासता है—वस्तुतः वह एकरूप ही है, क्योंकि ‘तत्त्वमसि’ इत्यादि अमेदश्रुतिका अभ्यास है ।

भाष्य

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधि-
भूतेषु सविशेषा इवाऽवभासन्ते, न च स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एव-
मुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः, स्वतस्त्वैकात्म्यमेव । तथा हि—वेदान्तेष्व-
भ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

भाष्यका अनुवाद

जैसे प्रकाश, आकाश, सविता आदि अंगुलि, कमण्डलु, जल आदि उपाधि-
भूत कर्मोंमें—सविशेषसे भासते हैं परन्तु अपने स्वाभाविक साधारण रूपको नहीं
छोड़ते, वसी प्रकार आत्मभेद उपाधिनिमित्त ही है, स्वतः तो एकात्मा ही है,
क्योंकि वेदान्तोंमें अभ्याससे—बारंबार जीव और प्राज्ञके अभेदका प्रतिपादन
किया जाता है ॥ २५ ॥

रत्नप्रभा

प्रकाशादिवच्चेति । यथा प्रकाशादयः उपाधिषु भिद्यन्ते, न स्वतः, एवं
स्वप्रकाशः चिदात्मापि ध्यानादिकर्मण्युपाधौ भिद्यते । स्वतस्त्वस्य अवैशेष्यम्—एक-
रसत्वमेव । 'तत्त्वमसि' इत्यभ्यासादिति सूत्रयोजना ॥ २५ ॥

रत्नप्रभाका अनुवाद

“प्रकाशादिवच्च” इत्यादि । जैसे प्रकाश आदि उपाधियोंमें भिन्न हैं, स्वतः भिन्न नहीं हैं
वैसे ही स्वप्रकाश अर्थात् चिदात्मा भी ध्यानादि कर्मरूप उपाधियोंमें भिन्न है, स्वतः तो वह अवि-
शिष्ट—अभिन्न—एकरस ही है । क्योंकि 'तत्त्वमसि'—(वह तू है) इस प्रकार श्रुतिने
बारंबार अभेद कहा है । इस प्रकार सूत्रकी योजना करनी चाहिए ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

पदच्छेद—अतः, अनन्तेन, तथा, हि, लिङ्गम् ।

पदार्थोक्ति—अतः—भेदस्योपाधिकत्वात् [विद्यया भेदं विधूय जीवः]
अनन्तेन—परमात्मना [एकतां गच्छति] हि—यतः तथा—तादृशार्थज्ञापकं
लिङ्गम् 'स यो ह वै तत्परमम्' इत्यादिश्रुतिरूपम् प्रमाणं [वर्तते, इत्यर्थः] ।

भाषार्थ—भेदके उपाधिप्रयुक्त होनेसे विद्या द्वारा भेदका विनाश करके
जीव परमात्माके साथ एकरूपताको प्राप्त होता है, क्योंकि उस अर्थका ज्ञापक
'स यो ह वै' इत्यादि श्रुति प्रमाण है ।

अच्युतग्रन्थमालासे प्रकाशित पुस्तकोंका सूचीपत्र

(क) विभाग

१-भगवन्नामकौमुदी—[भगवन्नामकी महिमाका प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ]
मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् श्रीलक्ष्मीधरकी कृति, अनन्तदेवरचित 'प्रकाश'
टीकासहित । सम्पादक—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १५०, मू.—आ. १०

२-भक्तिरसायन—[भक्तिस्वरूपका परिचायक अत्युत्तम ग्रन्थ] यतिवर
'श्रीमधुसूदन सरस्वतीरचित प्रथम उल्लासमें ग्रन्थकाररचित शेष दो उल्लासोंमें
आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री रचित टीकासे विभूषित । सं०—आचार्यवर
गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० १७०, मू.—आ. १२

३-शुल्बसूत्र—[कात्यायनश्रौतसूत्रका परिशिष्ट अंश] वेदाचार्य पं० विद्याधर
गौड़की बनाई हुई सरलवृत्तिसहित । सं०—वेदाचार्य विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० ६०, मू.—आ. ४

४-कात्यायनश्रौतसूत्र—[इसमें दर्शपूर्णमाससे लेकर अश्वमेध, पितृमेधपर्यन्त
कितने ही यज्ञोंकी विधियां साङ्गोपाङ्ग वर्णित हैं] महर्षि कात्यायनप्रणीत,
वेदाचार्य पं० विद्याधर गौड़ द्वारा रचित सुसरल वृत्तिसे अलंकृत । सं०—वेदाचार्य
विद्याधर गौड़ ।

पृ० सं० लगभग १०००, मू.—रु. ६

५-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(प्रथम भाग) [शाङ्करभाष्यानुसार वेदान्तका
सुसरल पद्यमय ग्रन्थ] श्रीसदानन्द व्यासविरचित, ग्रन्थकाररचित सरल संस्कृत
टीकासहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू.—रु. २

६-भक्तिरसामृतसिन्धु—[भक्तिरससे परिपूर्ण यह ग्रन्थ सचमुच पीयूषसिन्धु है]
श्रीरूप गोस्वामीप्रणीत, श्रीजीव गोस्वामीप्रणीत दुर्गमसङ्गमनी टीकासहित ।
सं०—आचार्यवर गोस्वामी दामोदर शास्त्री ।

पृ० सं० ६२५, मू०—रु० ३

७-प्रत्यक्तत्त्वचिन्तामणि—(द्वितीय भाग) पृ० सं० ४५० मू०—रु. २ आ. ४

८-तिथ्यर्क—[तिथियोंके निर्णय आदिपर अपूर्व एवं प्रामाणिक ग्रन्थ] श्रीदिवाकर
विरचित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री ।

पृ० सं० ३४०, मू०—रु० १ आ० ८

९-परमार्थसार—[वेदान्तका अति प्राचीन ग्रन्थ] श्रीपतञ्जलि भगवान्की कृति, प्राचीन टीका तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्ल । पृ० सं० १००, मू.—आ. ६

१०-प्रेमपत्तन—[श्रीकृष्णभक्तिसे सराबोर चैतन्य-सम्प्रदायका अपूर्व ग्रन्थ] भक्तवर रसिकोत्तंसकी कृति तथा अद्भुतप्रणीत टीकासे अलंकृत । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ. सं. २३०, मू.—रु. १

(ख) विभाग

१-खण्डनखण्डखाद्य—कवितार्किकशिरोमणि श्रीहर्षरचित, पंडितवर श्रीचण्डी-प्रसाद शुक्ल विरचित भाषानुवादसे विभूषित ।

पृ० सं० ४३५ (बड़ा आकार) मू.—रु. २ आ. १२

२-काशी-कैदार-माहात्म्य—[ब्रह्मवैवर्तपुराणान्तर्गत] साहित्यरत्न पं० श्री-विजयानन्द त्रिपाठीद्वारा विरचित भाषानुवादसहित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० २६+६०४, मू.—रु. २ आ. ८

३-सिद्धान्तविन्दु—(वेदान्तका प्रमेयबहुल अपूर्व ग्रन्थ) आचार्यप्रवर श्रीमधुसूदन सरस्वतीविरचित, भाषानुवाद तथा टिप्पणीसे विभूषित । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं २८०, मू. रु. १ आ. ६

५-प्रकरणपञ्चक—भगवान् शङ्कराचार्यके आत्मबोध, प्रौढानुभूति, तत्त्वोपदेश आदि ५ प्रकरण-ग्रन्थोंका भाषानुवादसहित संग्रह । सं०—साहित्याचार्य श्रीकृष्ण पन्त शास्त्री । पृ० सं० १३१, मू.—आ. ८

यन्त्रस्थ ग्रन्थ—

१ पद्मसन्दर्भ, विविध टीकाओंसे विभूषित ।

मिलनेका पता—

(१) अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।

(२) गीताप्रेस, गोरखपुर ।



नोट—अच्युतग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहकोंको उक्त सभी पुस्तकें पौन मूल्यपर दी जाती हैं । 'अच्युत' मासिक पत्रके स्थायी ग्राहक (ख) विभागके स्थायी ग्राहक समझे जायेंगे ।

